षोडशोऽध्याय।

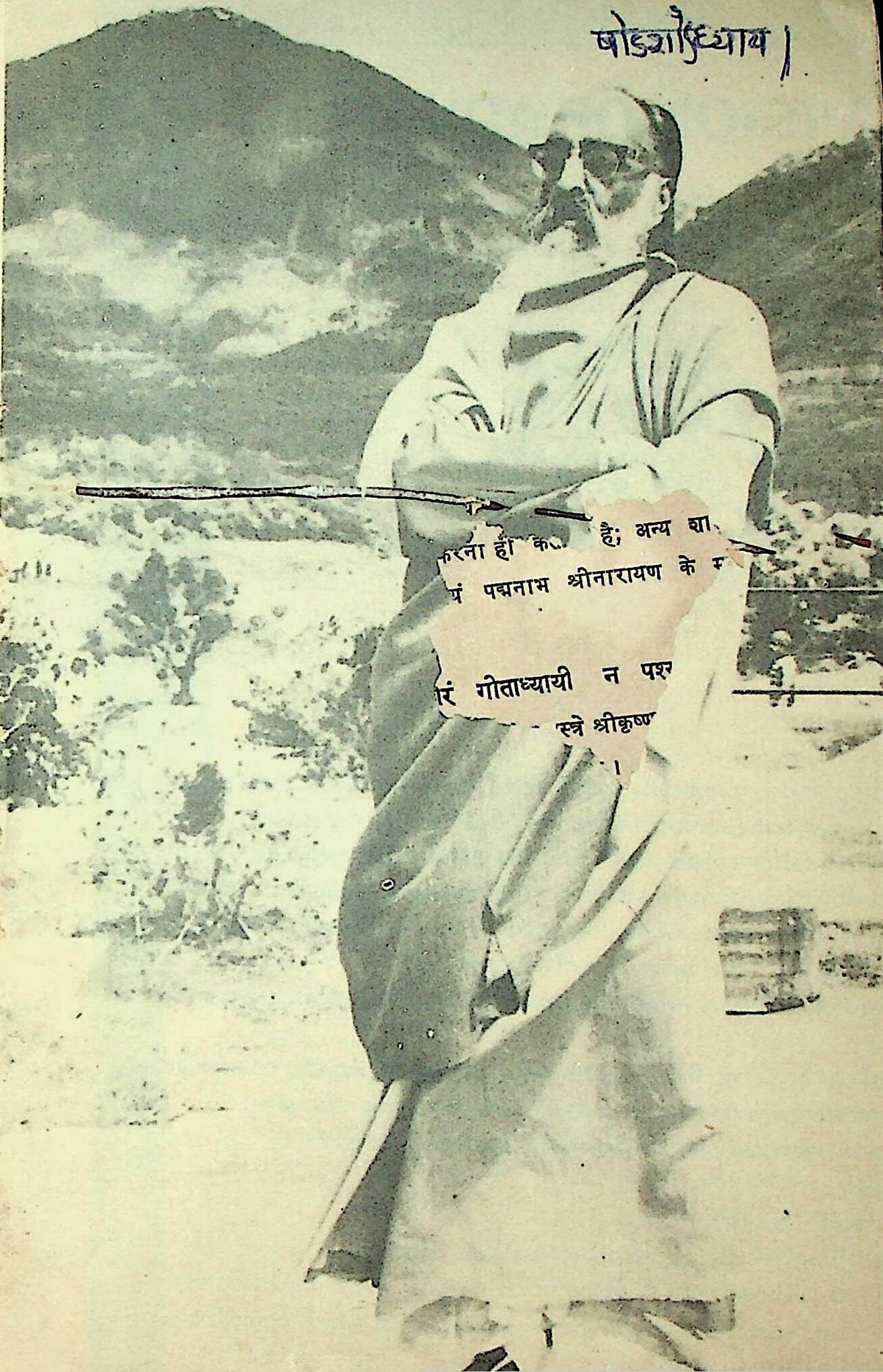

करना हो क… हैं; अन्य शा…

…पं पद्मनाभ श्रीनारायण के …

…रं गीताध्यायी न पश्…

…स्त्रे श्रीकृष्ण…

…।

Swami Chinmayananda

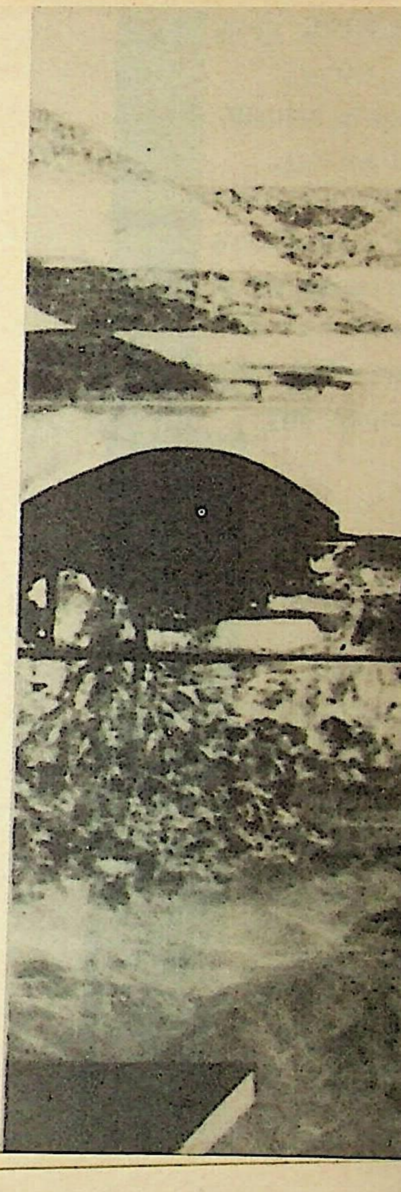

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

षोडशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वतीजी महाराज

गीतामण्डली
श्री शंकराचार्य आश्रम,
१५, अलोपीबाग (ब्रह्मनिवास),
इलाहाबाद–६

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
श्रीशंकराचार्य आश्रम १५—अलोपी
बाग (ब्रह्मनिवास) इलाहाबाद—६

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२२ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/२८ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-
निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना—५ (बिहार)

७—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

८—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच. एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

९—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे
कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

१०—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का षोडश अध्याय (दैवासुरसंपद्विभागयोग) प्रकाशित हो रहा है। इस अध्याय की पाण्डुलिपि (Manuscript) तैयार करने के लिये श्री पृथ्वीसिंह B. SC., B. E. ने निःस्वार्थभाव से बहुत परिश्रम किया। इसलिये गीतामण्डली उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

दीपावली
५-११-७२

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडशोऽध्यायः

"दैवासुरसंपद्विभागयोगः"

पिछले पंचदश अध्याय में 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (१५।२) इस श्लोक में मनुष्य देह में पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार अभिव्यक्त होने वाली वासनाएँ ही संसार वृक्ष की अवान्तर मूलें हैं, ऐसा कहा गया है। नवम अध्याय में प्राणियों की दैवी, आसुरी एवं राक्षसी ये तीन प्रकार की प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं। उनमें जिस सात्त्विकी शुभ वासना के द्वारा वेदविहित कर्म के और आत्मज्ञान के उपायों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है वह सात्त्विकी शुभ वासना दैवी प्रकृति कही जाती है। इसी प्रकार वेदों के निषेध का उल्लंघन करके स्वभावसिद्ध राग द्वेषादि का अनुसरण करते हुए जिन राजसी तथा तामसी अशुभ वासनाओं के द्वारा अनेक अनर्थों के हेतुभूत निषिद्ध कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, वे (राजसी तथा तामसी अशुभ वासनाएँ) आसुरी और राक्षसी प्रकृति का कारण कही जाती हैं। (राजसी तथा तामसी वासनाओं के द्वारा निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त होनेपर जब विषय-भोग की प्रधानता से राग की प्रबलता होती है तो वह आसुरीपन है तथा जब हिंसा की प्रधानता से द्वेष की

प्रबलता होती है तो वह राक्षसीपन है—इस प्रकार इनका भेद समझना चाहिए। इस अध्याय में तो १६।१–२–३, जिस सात्त्विकी शुभवासना के द्वारा प्रेरित होकर शास्त्र के अनुसार विहित कर्म में ही प्रवृत्ति होती है उसे दैवी सम्पत्ति कहा गया है तथा जिस राजसी एवं तामसी वासना के द्वारा प्रेरित होकर शास्त्र के उल्लंघनपूर्वक निषिद्ध विषय में प्रवृत्ति होती है उन राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तियों को एक करके आसुरी सम्पत्ति कहा गया है। वेद में भी समस्त शुभ तथा अशुभ वासनाओं को देव तथा असुर इन दो राशियों में विभक्त करके कहा है कि 'द्वयो ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' अर्थात् देव और असुर ये दो प्रजापति के पुत्र थे। इनमें से शुभ वासना का ग्रहण तथा अशुभ वासना का त्याग करना सभी मुमुक्षुओं का कर्तव्य है, इसे प्रतिपादित करने के लिये सोलहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है।

दैवी, आसुरी तथा राक्षसी इन तीनों प्रकार की प्रकृतियों में दैवी प्रकृति संसार से मुक्त करने वाली है एवं आसुरी तथा राक्षसी प्रकृतियाँ बन्धन करने वाली हैं। अतः जिससे मुमुक्षु दैवीप्रकृति का सम्पादन कर सके तथा दूसरी (आसुरी तथा राक्षसी) दोनों प्रकृतियों का त्याग सके, इसके लिये श्रीभगवान् बोले—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अन्वय—हे भारत! अभयम्, सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानम्, दमः च, यज्ञः च, स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम्, अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनम्, भूतेषु दया, अलोलुप्त्वम्, मार्दवम्, ह्रीः, अचापलम्, तेजः क्षमा, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः, नातिमानिता (एते धर्माः) हे भारत? दैवीं संपदम् अभिजातस्य भवन्ति।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा कि हे भारत ! दैवी सम्पत्ति को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में निर्भयता, अन्तःकरण की संशुद्धि (अत्यन्त निर्मलता), ज्ञान तथा योग में स्थिति (निष्ठा), दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दावर्जन (चुगली न करना), प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता (निर्लोभ), मृदुलता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, निर्वैरता (किसी के प्रति द्रोह या वैरभाव न रखना) और अधिक मान (अपने प्रति अतिशय पूज्यताभाव) नहीं रखना—ये सब धर्म हैं।

भाष्यदीपिका—अभयम्—निर्भयता [(क) बिना संदेह के शास्त्रद्वारा उपदेश किये हुए विषय का अनुष्ठान करने में तत्पर होने को अभय कहा जाता है (आनन्दगिरि)। (ख) सब प्रकार के संग्रहों को छोड़कर मैं अकेला किस प्रकार जीवित रहूँगा ? इस प्रकार से भय से शून्य होना अभय है (मधुसूदन) (ग) संन्यास ग्रहण के समय 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इसप्रकार सर्वभूतों को अभय देने के संकल्प का परिपालन करना ही अभय है (मधुसूदन)। (घ) सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वत्र विद्यमान है एवं सब कुछ उनकी इच्छा से ही होता है, इस प्रकार से पूर्ण विश्वास रहने पर ही अभय सम्भव है—अन्यथा नहीं।] **सत्त्वसंशुद्धिः**—सत्त्व (अन्तःकरण की सम्यक्प्रकार से शुद्धि अर्थात् व्यवहार में दूसरे के साथ ठगाई, कपट एवं झूठ आदि अवगुणों को छोड़कर शुद्धभाव से आचरण करना 'सत्त्वसंशुद्धि का लक्षण है [अथवा अन्तकरण की अति निर्मल अवस्था जिसमें भगवत्तत्त्व साक्षात्कार की योग्यता होती है वह सत्त्वसंशुद्धि है (मधुसूदन)] **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—ज्ञान तथा योग में निरन्तर स्थिति। शास्त्रों तथा आचार्यों से आत्मा तथा अनात्म पदार्थों के तत्त्वको जानना ज्ञान है तथा उस जाने हुए पदार्थ का इन्द्रियादि के निग्रह से प्राप्त हुई एकाग्रताद्वारा (उस आत्मतत्त्व को) प्रत्यक्ष अनुभव करलेना योग है। उन ज्ञान तथा योग दोनों में अवस्थिति (निष्ठा अर्थात् तत्परता या निरन्तर स्थिति यानी तन्मय हो जाना) ही सात्त्विकी दैवी सम्पत्ति है। ये तीनों परमहंस परिब्राजक संन्यासियों की दैवी-सम्पत्ति हैं। और भी जिन अधिकारियों की जिस विषय में जो सात्त्विक प्रवृत्ति हो सकती है, वह कही जाती है-**दानम्**—अपनी शक्ति के अनुसार अन्नादि वस्तुओं का

विभाग करना दान है। [अपने सत्त्व के परित्यागपूर्वक दूसरे का सत्व कर देना अर्थात् यथाशक्ति अन्नादि का शास्त्रोक्त उपायों से परित्याग कर देना (बांट देना) दान है (मधुसूदन)] **दमः च**—तथा निषिद्ध विषय से बाह्यइन्द्रियों (पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंचज्ञानेन्द्रियों) का संयम। अन्तःकरण के उपशम (निग्रह) को 'शान्ति' के नाम से आगे कहा जायगा। **यज्ञः च**—एवं यज्ञ, श्रौत (श्रुतिविहित) अग्निहोत्र एवं दर्श पौर्णमास प्रभृति यज्ञ तथा स्मार्त (मनु आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतिशास्त्र से विहित देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा भूतयज्ञ-ये चार प्रकार के यज्ञ) [यहाँ 'च' शब्द अन्य सब प्रवृत्तिलक्षण धर्म जिनका कि यहाँ पृथक् रूप से उल्लेख 'नहीं किया गया है, उन धर्मों के समुच्चय के लिये है। ये तीनों धर्म (दान, दम तथा यज्ञ) गृहस्थ के लिये हैं। (मधुसूदन्)] **स्वाध्यायः**—शुभ अदृष्ट की प्राप्ति के लिये ऋक् आदि वेदों का अध्ययन करना ['यज्ञ' शब्द से पांच प्रकार के महायज्ञों का कथन संभव होने पर भी स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ को विशेषरूप से ब्रह्मचारी का धर्म बताने के लिये पृथक् रूप से कहा गया है (मधुसूदन)] **तपः**—शारीरिक आदि तपस्या, जो आगे सप्तदश अध्याय में बतलाया जायगा-यह वानप्रस्थी का विशेष धर्म है [इस प्रकार चारों (आश्रमों के असाधारण धर्मों का वर्णन कर अब चारों) वर्णों के असाधारण धर्मों का वर्णन करते हैं—] **आर्जवम्**—अवक्रता अर्थात् अकुटिलता यानी सदा सरलता [श्रद्धालु श्रोताओं के सामने अपनी जानी हुई बात को न छिपाना (मधुसूदन)।] **अहिंसा**—किसी भी प्राणी को कष्ट न देना [प्राणियों की वृत्ति का छेदन करना हिंसा है, उसका कारण न बनना अहिंसा है (मधुसूदन)]। शास्त्र-विहित पशुबलि को हिंसा नहीं माना जाता। **सत्यम्**—अप्रियता तथा असत्य से रहित यथार्थ वचन [अर्थात् जिसके परिणाम में अनर्थ न हो ऐसे यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं (मधुसूदन)।] **अक्रोधः**—दूसरे के द्वारा गाली दिये जाने पर या ताड़ना दिये जाने पर उत्पन्न हुए क्रोध को शान्त कर देना। **त्यागः**-संन्यास [दान का पृथक् रूप से उल्लेख पहले ही हो चुका है। इसलिये यहाँ 'त्याग' शब्द संन्यास का वाचक है (मधुसूदन)।] **शान्तिः**—अन्तःकरण का संकल्परहित होना। [यहाँ शान्ति का अर्थ 'दम' नहीं है क्योंकि दम का तो पृथकरूप से उल्लेख किया जा चुका है

(मधुसूदन)] **अपैशुनम्**—किसी दूसरे के सामने पराये छिद्र को प्रकट करना पिशुनता (चुगली) है, उसका न होना अपैशुन है। **भूतेषु दया**—भूतों पर दया अर्थात् दुःखी प्राणियों पर कृपा करना। **अलोलुप्त्वम्**—विषय के साथ संयोग के होने पर भी इन्द्रियों में विकार न होना। **मार्दवम्**—मृदुलता (कोमलता अर्थात् अक्रूरता)। [शिष्यादि यदि वृथा पूर्वपक्षादि ग्रहण करे तो भी उन्हें अप्रिय भाषणादि न करते हुए समझाना (मधुसूदन)।] **ह्रीः**—लज्जा। [न करने योग्य प्रवृत्ति के आरम्भ में उसे रोकनेवाली लोकलज्जा अर्थात् लोग क्या कहेंगे, इसप्रकार की वृत्तिविशेष के द्वारा निषिद्ध कर्म को करने की प्रवृत्ति प्रतिहत होती है (रुक जाती है) वह ह्री (लज्जा) है (मधुसूदन)] **अचापलम्**—प्रयोजन के बिना वाणी, हाथ, पैर आदि की व्यर्थ क्रियाओं को न करना। ['आर्जव' से लेकर 'अचापल' पर्यन्त ब्राह्मण के असाधारण धर्म कहे गये हैं (मधुसूदन)] **तेजः**—प्रागल्भ्य (तेजस्विता)। यह बाह्य चमड़े की चमक नहीं है [मूर्ख स्त्री या बालक आदि के द्वारा अपमानित होने पर उससे अभिभूत न होना (मधुसूदन)] **क्षमा**—गाली दी जाने या ताड़ना दी जाने पर भी अन्तःकरण में विकार उत्पन्न न होना [अपने तिरस्कार के कारणों को दबाने की शक्ति रहने पर भी क्रोध उत्पन्न न होना (मधुसूदन)]। किसी की गाली ताडन से यदि चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो तो वह क्षमा है और यदि उससे चित्त में क्रोधरूप विकार उत्पन्न हो तो उस क्रोध को चित्त में ही शान्त कर लेने को अक्रोध कहा जाता है। क्षमा और अक्रोध में इतना ही भेद है। **धृतिः**—शरीर और इन्द्रियादि में अवसाद (थकावट) उत्पन्न होने पर उस अवसाद को हटानेवाली जो अन्तःकरण की वृत्तिविशेष है, उसका नाम 'धृति' है, जिसके कि द्वारा उत्साहित की हुई इन्द्रियाँ और शरीर किसी कार्य के करने में अवसन्न नहीं होते (नहीं थकते)। [तेजः, क्षमा तथा धृति—ये तीन क्षत्रीय के असाधारण धर्म हैं (मधुसूदन)]। **शौचम्**—दो प्रकार की शुद्धि अर्थात् (क) मिट्टी तथा जल आदि से बाहर की शुद्धि और (ख) माया (कपटता) एवं राग (विषयानुराग) से उत्पन्न हुई अन्तःकरण की कलुषता (मलिनता) का नाश कर मन तथा बुद्धि की निर्मलतारूप भीतर की शुद्धि। [मधुसूदन सरस्वती कहते

हैं कि यहाँ मृत्तिका तथा जलादि से होने वाला बाह्य शौच नहीं लेना चाहिए क्योंकि शरीरादि की शुद्धि बाह्य होने के कारण वह अन्तःकरण की वासनाओं का शोधक नहीं हो सकती है। सात्त्विक आदि भेदों से भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्तःकरण की वासनाओंका ही यहाँ दैवी तथा आसुरी आदि सम्पदाओं के भेद से प्रतिपादन करना अभीष्ट है।]

अद्रोहः—(शस्त्रग्रहणादि द्वारा) दूसरे का घात करने की इच्छा द्रोह है तथा उसका अभाव अर्थात् हिंसा न करना अद्रोह है [ये दोनों वैश्य के असाधारण धर्म हैं।]

नातिमानिता—अत्यन्त मान (अपने में अतिशय पूज्यत्व की भावना) का नाम अतिमान है। वह जिसमें हो वह अतिमानी है। अतिमानी का भाव अतिमानिता है। उसका जो अभाव है वह नातिमानिता है अर्थात् अपने में अतिशय पूज्यत्व की भावना का न होना अथवा पूज्यों के प्रति नम्रता ही नातिमानिता है (मधुसूदन)। यह शूद्रों का असाधारण धर्म है। **हे भारत! दैवीं सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति**—अभय से लेकर यहाँ तक के ये सब छब्बीस लक्षण जो दैवी सम्पत्ति को साथ लेकर उत्पन्न हुआ है [अर्थात् जो देवताओं की विभूति के योग्य (पात्र) है एवं भविष्य में जिसका कल्याण (मोक्ष) होना निश्चित है] उस पुरुष में होते हैं। [यहाँ 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (इस आत्मा को ब्राह्मणलोग वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप, और उपवास द्वारा जानना चाहते हैं), इस श्रुति में जिज्ञासा में उपयोगीरूप से लिये हुए असाधारण तथा साधारण वर्णाश्रम-धर्मों को उपलक्षित किया गया है। शरीरारम्भ के समय पुण्य कर्मों के द्वारा (पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के संस्कार के प्रभाव से) अभिव्यक्त शुद्धसत्त्वमयी दैवी सम्पद् को लक्षित करके उत्पन्न हुए पुरुषों में ये धर्म होते हैं। यह बात 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व-प्रज्ञा च' अर्थात् जब जीव शरीर को त्याग करके उत्क्रमण करता है तब जीव के पूर्वजन्म की विद्या, कर्म, तथा पूर्वप्रज्ञा उसके अनुबन्धी होते हैं अर्थात् पीछे पीछे चलते हैं एवं नूतन देह में वे विद्या, कर्म और पूर्ववासना प्रकट हो जाती हैं तथा 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (पुण्यकर्म से वह पुण्यात्मा होता है तथा पाप कर्मसे पापी होता है) इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित होती है। 'हे भारत!' इस सम्बोधन से श्रीभगवान् यह सूचित करते हैं कि शुद्ध भरतवंश में जन्म लेने के कारण पवित्र होने से

तुम ऐसे धर्म के योग्य हो (मधुसूदन)]। मधुसूदन सरस्वती ने पहले श्लोक में 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इन तीनों को परमहंस संन्यासी के धर्म मानकर इसप्रकार से व्याख्या की है—**अभयम्**—संन्यासग्रहण के समय समस्त जीवों को जो अभय देने का संकल्प है, उसका परिपालन। 'अभय' शब्द से उपलक्षण द्वारा परमहंसों के अन्य धर्म का भी ग्रहण किया गया है। **सत्त्वसंशुद्धिः**—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के परिपाक से सत्त्व का (अन्तःकरण का) असम्भावना एवं विपरीत भावनादि मल से रहित होजाना ही सत्त्वसंशुद्धि है। **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—ज्ञान आत्मा का साक्षात्कार है और योग मनोनाश और वासनाक्षय के अनुकूल पुरुष का प्रयत्न है। मनोनाश और वासनाक्षय पूर्वक आत्मतत्त्व में जो दृढ़भाव से स्थिति जीवन्मुक्त पुरुष की होती है, उस अवस्था को 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' कहा जाता है। ये तीनों जीवन्मुक्ति के लिये साधन नहीं हैं परन्तु ये दैवी सम्पदाएँ जीवन्मुक्त की अवस्था में स्वतः ही प्रकट होती हैं। अतः उनको साधन के फल अर्थात् फलभूत दैवीसम्पद् माना जाता है। [भगवद्भक्ति के बिना अन्तःकरण संशुद्धि का होना संभव नहीं है, इसलिये इसके द्वारा उसका भी उल्लेख हो जाता है, क्योंकि नवम अध्याय में 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्' इस स्थानपर दैवी सम्पद् में भगवद्भक्ति भी कही गयी है। भगवद्भक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ है, इसलिये इसका अभयादि के साथ पाठ नहीं किया गया है—ऐसा समझना चाहिए। (मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—

आसुरीं सम्पदं त्यक्त्वा दैवीमेवाश्रिता नराः।
मुच्यन्त इति निर्णेतुं तद्विवेकोऽथ षोडशे॥

आसुरी सम्पदा का त्याग करके जो मनुष्य केवल दैवी सम्पदा के आश्रित हो जाते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, इस बात का निर्णय करने के उद्देश्य से अब उन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन सोलहवें अध्याय में किया जाता है—

पूर्व (पन्द्रहवें) अध्याय के अन्त में 'हे भारत! इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाता है' यह कहा गया है। इसके सम्बन्ध में यह जिज्ञासा

हो सकती है कि कौन इस तत्त्व को जानता है और कौन नहीं जानता ? ऐसी शंका होने पर तत्त्वज्ञान में कौन अधिकारी है तथा कौन अनधिकारी है, इसका विवेचन करने के लिये सोलहवें अध्याय का आरम्भ हुआ है, क्योंकि कार्यों का निरूपण हो जाने पर ही अधिकारी के विषय में जिज्ञासा होती है। इसलिये 'भट्ट' ने कहा—'भारो यो येन वोढव्यः स प्रागान्दोलितो यदा। तदा कस्तस्य वोढेति शक्यं कर्तुं निरूपणम्।' जिसके द्वारा भार ढोया जाना है, वह पहले ही जब आन्दोलित (विचलित) हो तब उसका ढोनेवाला कौन है, इसका निरूपण कैसे किया जा सकता है।' उनमें अर्थात् अधिकारी एवं अनधिकारी का निर्णय करने में जो दैवीसम्पदारूप विशेषण से युक्त हैं वे ही अधिकारी हैं, ऐसा कहने के लिये दैवीसम्पदा का वर्णन 'अभयं' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा करते हैं—

श्रीभगवान् बोले—**अभयम्**—भय का अभाव, **सत्त्वसंशुद्धिः**—सत्त्व (चित्त) की सम्यक्प्रकार से शुद्धि (सुप्रसन्नता), **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—ज्ञान (आत्मज्ञान) के योग (उपाय) में व्यवस्थिति (सब प्रकार से निष्ठा), **दानम्**—अपने भोजन के योग्य अन्न आदि का यथोचित विभाग, **दमः**—बाह्य इन्द्रियों का संयम, **यज्ञः**—अधिकार के अनुसार दर्शपौर्णमासादि यज्ञ, **स्वाध्यायः**—ब्रह्मयज्ञ आदि अथवा जप यज्ञ, **तपः**—आगे सत्तरहवें अध्याय में (१७।१४-१९) कहे जाने वाले शरीरादि सम्बन्धी तप, **आर्जवम्**—सरलता, **अहिंसा**—दूसरे को पीड़ा न देना, **सत्यम्**—जैसा देखा, सुना गया हो वैसा ही कथन, **अक्रोधः**—किसी के द्वारा ताड़ित होने पर भी चित्त में क्षोभ उत्पन्न न होना, **त्यागः**—उदारता, **शान्तिः**—चित्त की उपरति, **अपैशुनम्**—किसी के पीछे उसके दोष को प्रकट करना पिशुनता है, उसका वर्जन करना अपिशुनता है, **भूतेषु दया**—दीन दुःखी प्राणियों पर दया (अनुग्रह) करना, **अलोलुप्त्वम्**—लोभ का अभाव, **मार्दवम्**—मृदुता (क्रूरता का अभाव अर्थात् कोमलता), **ह्रीः**—अनुचित कार्य में प्रवृत्ति होने पर लोक-लज्जा, **अचापलम्**—व्यर्थ क्रिया से रहित होना, **तेजः**—प्रगल्भता (तेजस्विता), **क्षमा**—अपमानादि होने पर क्रोध को दमन करना, **धृतिः**—दुःख आदि से खिन्न हुए चित्त को स्थिर रखना, **शौचम्**—बाहर (शरीर आदि) भीतर (अन्तःकरण आदि) की शुद्धि,

अद्रोहः—किसी के वध की इच्छा से रहित होना, **नातिमानिता**—अपने में अति-पूज्यत्व का अभिमान ही अतिमानिता है, उसका अभाव नातिमानिता है। **हे भारत!**—हे अर्जुन! ये अभयादि छब्बिस लक्षण **दैवीं सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति**—दैवीसम्पत्ति से विशिष्ट होकर जो मनुष्य उत्पन्न हुए हैं उनमें देखे जाते हैं कहने का अभिप्राय यह है कि दैवीसम्पदा अर्थात् देवों के योग्य सात्त्विकी सम्पदा जिसमें प्रकट होती है उस भावी कल्याण (मोक्ष) के पात्र में ये लक्षण होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—सत्त्वादि तीनों गुणों के अतिक्रमण के लिये जिसमें निष्ठा (अर्थात् स्थिति) आवश्यक है, उस निर्विशेष परमब्रह्म का स्वरूप, उसके जानने का प्रकार, ज्ञान एवं उसका फल विदेह कैवल्य का प्रतिपादन करके 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' (गीता १५।१९) इस श्लोक से असम्मूढ़ का (सर्वप्रकार से विषय-वासना से रहित का) ही पुरुषोत्तम के स्वरूप को जानने में अधिकार है, इस प्रकार कहकर जो मुमुक्षु योगी तत्त्वज्ञान में अधिकारी है उसके असम्मूढ़त्व की सिद्धि के लिये दैवी सम्पद् का सम्पादन करना तथा आसुरी सम्पद् का त्याग करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार दोनों सम्पत्तियों का स्वरूप दिखलाने के लिये सोलहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले उन दोनों सम्पत्तियों में से दैवी सम्पत्ति ही मोक्ष का साधन होने के कारण उत्तम है एवं मुमुक्षु के लिये यह उपादेय है, इसलिये प्रथम दैवी सम्पद् का प्रतिपादन करने के लिये श्रीभगवान् कहते हैं **अभयम्**—भय का अभाव अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक उपद्रवों के प्राप्त होने पर भी मन में भय से रहित होना अथवा दूसरों को भय उत्पन्न न करना अथवा सम्पूर्ण शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान होने के कारण संशयरहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठातृत्व 'अभय' शब्द का अर्थ है। **सत्त्व-संशुद्धिः**—सत्त्व (अन्तःकरण) की संशुद्धि १६।१-२-३, (शुद्धता) अर्थात् राग-द्वेष, लोभ, मोह, असूया (दूसरे के दोष का दर्शन) मत्सर (दूसरे का ऐश्वर्य देखकर जलना) तथा अहंकार आदि दोषों का आश्रय न होना **ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः**—ज्ञानयोग अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि में विशेषरूप से व्यवस्थिति (अवस्थिति अर्थात् सर्वदा केवल उसी में तत्परता) **दानम्**—चाहने वालों को श्रद्धा से यथाशक्ति अन्नादि पदार्थों का समर्पण **दमः**—दुष्ट वृत्ति से बाहर की

इन्द्रियों का (चक्षु, कर्ण आदि का) उपरम अथवा चित्त को दण्ड देना दम है। 'च' कार इन सबके समुच्चय के लिये हैं। **यज्ञः**—श्रौत अर्थात् वेद—विहित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, सोमयाग इत्यादि एवं 'च' कार से स्मार्त, स्थालीपाक आदि का भी ग्रहण किया जाता है। **स्वाध्यायः**—ब्रह्मयज्ञ (देवयज्ञ आदि का भी उपलक्षण है), **तपः**—देव, द्विज, गुरु और विद्वान् का पूजनरूप शारीरिक (शरीर सम्बन्धी) तप है। [सत्तरहवें अध्याय में वाचिक एवं मानसिक तपों का भी विशेषरूप से वर्णन किया गया है।] **आर्जवम्**—मन, वाणी तथा देह के कर्म में सर्वत्र सदा एकरूपता।

(श्लोक २)—**अहिंसा**—शास्त्रोक्त हिंसा के बिना प्राणियों की हिंसा न करना, **सत्यम्**—यथार्थ भाषण, **अक्रोधः**—दूसरे को तारण, पीड़न आदि द्वारा अपकार करने के आग्रह का उदय न होना, **त्यागः**—नित्य क्रियमाण श्रौतादि कर्म के फल का ईश्वरार्पण बुद्धि से त्याग करना, **शान्तिः**—विषय से अन्तःकरण की सर्वत्र उपरति, **अपैशुनम्**—किसी के पीठ-पीछे पराया मर्म न खोलना, **भूतेषु दया**—आर्त, अन्धे आदि दीन भूतों पर करुणा करना, **अलोलुप्त्वम्**—विषय की सन्निधि में इन्द्रियों का विकार नहीं होने देना, **मार्दवम्**—चित्त का काठिन्य (कठोरता) रहित होना (शीतलता) **ह्रीः**—लज्जा, अकार्य के करने में चित्त का संकोच **अचापलम्**—निमित्त के बिना मन तथा इन्द्रियों का व्यापार-रहित होना, **तेजः**—तेजस्त्व अर्थात् बुद्धि की सूक्ष्मता अथवा प्रकाश **क्षमा**—शान्ति अर्थात् यदि कोई उपद्रव आ जाय तो उसको अविकारीरूप से सहन करना क्षमा है, **धृत्तिः**—धैर्य अर्थात् विक्षेप का कारण उपस्थित होने पर भी देह, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को निश्चल रखने की शक्ति **शौचम्**—आन्तर तथा बाह्यशौच। [उनमें मिट्टि तथा जल से शरीर का मल दूर करना बाह्य शौच है तथा सत् और असत् (आत्मानात्म) के विवेक-विज्ञान से चित्त का दुर्वासना रूप मल दूर करना आन्तर शौच है।] **अद्रोहः**—अपने अपकारी को मारने की इच्छा का अभाव, **नातिमानिता**—अपने में अतिपूज्यत्व का अभिमान को अतिमान कहा जाता है, उसका अभाव नातिमान है, नातिमान के भाव को नातिमानिता कहते हैं अर्थात् प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखना नातिमानिता है। **दैवीं सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति**—अभय से लेकर नातिमानिता तक ये छब्बीस सात्त्विक धर्म हैं, क्योंकि उनमें

सत्त्वगुण निर्मल होने से वह प्रकाशक एवं अनामय (उपद्रवरहित) है (गीता १४।६) इस कथन से जो सत्त्वगुण से दीप्त होता है एवं निर्मल होने से प्रकाश करता है उसे देव कहा जाता है। उसकी सम्बन्धिनी जो सम्पत्ति (समृद्धि या उत्कर्ष) है वह दैवी सम्पत्ति कही जाती है। उस दैवी सम्पत्ति में अभिजात से अर्थात् पूर्व जन्म में किये गये पुण्य की अधिकता से सत्त्वकी अधिकता के अनुसार जन्मे हुए पुरुष के अथवा दैवी (देवताओं से सम्बन्धित) सम्पत्ति के अभिमुख होकर उत्पन्न हुए भावी परम पुरुषार्थ वाले (मोक्ष के अधिकारी) पुण्यात्मा पुरूष के ये छब्बीस सात्त्विक धर्म होते हैं।

(२) नारायणी टीका—पंचदश अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कहा कि इस अध्याय में जो सबसे गोपनीय शास्त्र मैंने कहा उसे जो समझ सकता है वह बुद्धिमान् (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी तथा कृतकृत्य) हो जाता है अर्थात् वह सर्वात्मा परमब्रह्म को अपने आत्मा के रूप से साक्षात् अनुभव करता है एवं उसमें निरन्तर रति (प्रेम) तथा आनन्दबोध रहने के कारण उसके लिये संसार में करने के योग्य कोई कर्म नहीं रहता क्योंकि वह जीवन्मुक्त-अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति की तथा कृतकृत्य होने की योग्यता उन्हीं सुकृतिशाली लोगों में है जिन्होंने कि दैवीप्रकृति में जन्म ग्रहण किये हैं। आसुरी प्रकृति में जिन्होंने जन्म लिये हैं वे मेरे द्वारा कहे हुए इस गुह्यतम शास्त्र को समझ नहीं सकते हैं। ६।१२-१३ श्लोकों में दैवी, आसुरी तथा राक्षसी प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन भगवान् ने किया। अब उनको स्पष्ट करने के लिये उन प्रकृतियों का विस्ताररूप से इस षोडश अध्याय में वर्णन कर रहे हैं—

इन प्रकृतियों का स्वरूप क्या है, वह आदि शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद के (१।३।१) मन्त्र के भाष्य में इसप्रकार से कहा है—'शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुराः' अर्थात् शास्त्रार्थ की आलोचना द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से तथा शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से दीप्यमान होने पर मानवप्रकृति दैवी हो जाती है! दैवी प्रकृति में सात्त्विक शुभ-वासना प्रबल होती है। किन्तु संसार मे स्वभावतः प्रत्यक्ष तथा

अनुमानजनित दृष्ट (लौकिक) प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही लौकिक कर्मानुष्ठान तथा बुद्धिजनित लौकिक ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। इसप्रकार की प्रकृति को आसुरी कहा जाता है। संसारियों के लिये लौकिक प्रयोजन पारमार्थिक प्रयोजन से अधिक होने के कारण श्रुति में असुर को ज्येष्ठ (अर्थात् संख्या में बहुत) तथा देव समूह को कनिष्ठ (अर्थात् संख्या में अल्प) कहा गया है। यथा—['ततः कानीयसा एव देवाः ज्यायसा असुराः' (बृ० उ० १।३।१)] अथवा मनुष्य के स्वभाववश लौकिक ज्ञान तथा लौकिक कर्मानुष्ठान में पहले प्रवृत्ति होती है इसलिये असुरगण (आसुरी वृत्तियाँ) ज्येष्ठ हैं एवं शास्त्रज्ञान तथा शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्ति बहुजन्मों की सुकृति के फल से विलम्ब से होती है, इसलिये देवगण (दैवी-वृत्तियाँ) कनिष्ठ हैं। अतः (१) शास्त्रज्ञान एवं शास्त्रविहितकर्म के अनुष्ठान से जिन सात्त्विकी शुभवासनाओं का उदय होता है वह मनुष्य को निवृत्ति मार्ग में चालित करके मोक्ष या पुरुषोत्तमरूप परमपद में पहुँचा देती हैं, इसलिये वे दैवी सम्पद् कहलाती हैं (२) लौकिक ज्ञान तथा लौकिक कर्मों के अनुष्ठान से राजसी तथा तामसी विषयवासनाओं का उदय होता है। वे वासनाएं विषयासक्ति को प्रबल कर मनुष्य को प्रवृत्तिमार्ग में चालित करके पुनः पुनः जन्म-मृत्युरूप संसारचक्र में डाल देती हैं, इसलिये वे आसुरी सम्पद् हैं। (३) उक्त आसुरी वृत्तियों में जब हिंसा तथा द्वेष की प्रबलता देखी जाती है तो उन आसुरी वृत्तियों को राक्षरी सम्पद् कहा जाता है। वस्तुतः राक्षसी-सम्पद् आसुरी सम्पद् के ही अन्तर्गत होने के कारण इस अध्याय में दैवीसंपत् तथा आसुरी संपद का ही वर्णन किया गया है। दैवीसम्पद् को अभिमुख कर अर्थात् दैवी सम्पद् की ओर जिस पुरुष ने जन्म लिया है उसके विशेष-विशेष लक्षण भगवान् ने पहले ही वर्णन किये हैं क्योंकि वे पन्द्रहवें अध्याय में उक्त उस परमपद की प्राप्ति के अन्तरङ्ग उपाय हैं, जिस पद की प्राप्ति होने पर पुनः संसार में आवर्तन नहीं होता है। वे लक्षण इसप्रकार है—

(१) **अभय**—एकमात्र सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ परमात्मा की इच्छा से ही समस्त स्थावरजङ्गमात्मक भूतसमूह अवश होकर अपने अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं एवं उसके संकल्प से ही सिनेमा की रील के समान विश्व-लीला का परम्पराक्रम निर्धारित हुआ है। अतः जो कुछ हो चुका है, हो रहा है तथा होगा, वह सब पहले से ही निर्दिष्ट

है, इस तत्त्व में दृढ़बुद्धि से स्थित रहने पर ही यथार्थ अभय प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रुति में कहा है—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।' अर्थात् जब साधक इस अदृश्य (दृश्यवस्तु से अतीत), अशरीरी, अनिर्वाच्य, निराधार वस्तु में (आनन्दस्वरूप ब्रह्म में) निर्भिकरूप से स्थितिलाभ करता है, तभी वह अभय को प्राप्त होता है और जब अविद्वान् (अज्ञानी साधक) इस ब्रह्म में अपने से अल्पमात्र भी भेद-दर्शन करता है, तभी उसे भय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो सर्वत्र, सदा एक ही आत्मा को देखता है उस परमहंस ज्ञानी को ही अभय प्राप्त हो सकता है एवं यह मुक्त पुरुष का एक विशेष लक्षण होने के कारण इसे दैवी सम्पद् कहा जाता है।

(२) **सत्त्वसंशुद्धि**—अन्तःकरण की सम्यक् प्रकार से शुद्धि। भगवान् ही सब कुछ है, यह दृढ़ निश्चय करने पर भगवान् के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता न रहने से भय का कोई हेतु न रहने पर अभय प्राप्त होता है—यह ऊपर कहा गया है। इसप्रकार अभय प्राप्त होने पर ही चित्त की सम्यक् प्रकार से शुद्धि होना सम्भव है। क्योंकि द्वैतशुद्धि एवं उस बुद्धि से उत्पन्न हुए राग-द्वेषादि रूप द्वन्द्व ही चित्त की अशुद्धि या मलिनता का मुख्य कारण है। इस प्रकार से द्वन्द्वरहित विशुद्ध चित्त में ही आत्मतत्त्व के स्फुरण की संभावना होती है। इसलिये यह देवी सम्पद् है [देव के अर्थात् स्वयंप्रकाश के प्रकट होने के लिये जिस (सम्पत्ति) की आवश्यकता होती है वही दैवी सम्पद् है।]

(३) **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—तत्त्वज्ञान तथा योग में विशेषरूप से स्थिति अर्थात् ऐकान्तिक निष्ठा। अभय से सत्त्व संशुद्धि होती है, एवं निर्मल बुद्धि में भगवान् का स्वरूप प्रतिफलित होने के कारण तत्त्वज्ञान अर्थात् 'वह ब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम मैं ही हूँ', इस प्रकार यथार्थ **ज्ञान**—का उदय होता है एवं आत्मा परमप्रेम का आस्पद (आश्रय) होने के कारण उसमें स्वतः ही सभी इन्द्रियाँ तथा मन के निरन्तर मिलन (**योगी**)— की इच्छा होती है अर्थात् सब इन्द्रियाँ आत्माभिमुखी होने पर अन्तः-करण उस सर्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान् में युक्त (समाधिस्थ) होकर **विशेषरूप से**

स्थिति—लाभ करता है इसको ही पुराण में गोपियों (इन्द्रियों) का तथा राधा (मन) का भगवान् के लिये अपूर्व प्रेम एवं उस रसस्वरूप आत्मा के साथ रमण (रास) रूप से वर्णन किया गया है। १६।१-२-३, ये तीनों दैवी सम्पद् जिस भाग्यवान पुरुष को प्राप्त हो गई हैं वही बुद्धिमान् (यथार्थज्ञानी एवं कृतकृत्य) हो गया है (गीता १५।२०)। [परमहंस यति को ही ये तीनों सम्पत् स्वतः ही प्राप्त होती है।]

अब जो गृहस्थ योगी पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् करने के अधिकारी है, उसमें जो-जो दैवीसम्पद देखी जाती हैं वे वर्णित हो रही हैं—

(४) दान—प्रत्येक प्राणी नित्य सुख चाहता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो बीज बोया जाता है उसका ही फसल काटना पड़ता है। अतः नित्य सुख की प्राप्ति के लिये नित्य अर्थात् सर्वदा सुख का बीज बोना पड़ेगा। अतः जीवन के परमोद्देश्य में पहूँचने के लिये अर्थात् नित्य सुख की प्राप्ति के लिये दूसरे को वस्तु से, कर्म से या भावना से अथवा अन्य प्रकार से सुख देना ही परम (श्रेष्ठ) दान है क्योंकि उससे ही सुखस्वरूप परमात्मा रूप फल की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार दानरूपी सम्पत्ति जिसकी है उसको देव अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा प्राप्त होता है इस लिए यह दैवीसम्पद् है।

(५) दम—जो अपने देहादि को ही आत्मा मानता है, उसकी समस्त इन्द्रियाँ देहादि के सुख के लिये ही विषयों के संग्रह में व्यस्त रहती हैं एवं इसी कारण से दूसरों के दुःख का कारण भी होती हैं। किन्तु जिसका उक्त प्रकार से दूसरे को सुखदान करना धर्म है उसकी इन्द्रियाँ विषयों के संग्रह से स्वतः ही निवृत्त होती हैं। अतः इस प्रकार की चित्तवृत्ति से जो इन्द्रियों का संयम या दमन होता है वही यथार्थ दम है, एवं वह दैवीसम्पद् है क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा की अनुभूति कराने में वह सहायक होती है।

(६) यज्ञ—उक्त प्रकार दान तथा दम (इन्द्रियों का संयम) होने पर एकमात्र भगवान् पुरुषोत्तम ही सर्वभूतों में आत्मारूप से अवस्थित हैं, इसप्रकार परोक्षज्ञान गुरुमुख से प्राप्त होने पर गृहस्थ योगी प्रारब्धवश सर्व कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी निष्काम भाव से सर्व कर्म एवं कर्म-फल सर्वत्र एवं सर्वदा पुरुषोत्तम

भगवान् में ही अर्पण रूप यज्ञ करता है। द्रव्यादि के द्वारा यह यज्ञ करने पर भी वह ज्ञानयज्ञ ही है जिसे कि सर्वयज्ञों में श्रेष्ठ माना जाता है (गीता ४।३३) क्योंकि वह इस प्रकार के यज्ञ से ही देव (आत्मा) को प्राप्त हो जाता है (गीता ६।२७-२८)।

(७) **स्वाध्याय**—उक्त प्रकार से यज्ञ करते हुए योगी को स्वतः ही स्वाध्याय अर्थात् स्व अपने स्वरूप का अध्याय (अध्ययन) अर्थात् निरन्तर स्मरण होता रहता है अथवा स्वाध्याय (स्वाध्ययन)=स्व + अधि + अयन अर्थात् अपने स्वरूप को अधिकृत कर उसके प्रति निरन्तर अयन या गति होती रहती है। अथवा स्वाध्याय का अर्थ है जप। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (पातञ्जलयोगसूत्र) यानी जप के विषय की भावना (स्मरण) करना ही जप है। इस अर्थ के अनुसार भी गृहस्थ योगी को उपर्युक्त ज्ञानयज्ञ द्वारा स्वतः ही स्वाध्याय होता है।

(८) **तप**—शास्त्र में कहा गया है कि मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परमतप है। उक्त प्रकार स्वाध्याय (आत्मा का निरंतर स्मरण) होने पर मन एवं इन्द्रियों का आत्मा में एकाग्र होना स्वाभाविक है।

(९) **आर्जव**—अकपटता। जो उपर्युक्त स्वाध्याय, यज्ञ एवं तप में निरत है उसकी दृष्टि में (मन में) माया से अतीत एक अखण्ड, अद्वितीय, आत्मा का ही स्मरण रहने के कारण वह भी माया या कपटता से अतीत हो जाता है अर्थात् उसके आचरण, बात-चीत आदि सभी शिशु के समान सरल एवं निष्कपट होते हैं। शुद्ध स्वतःसिद्ध आत्मा निष्कपट, सरल, सहज हृदय में ही प्रकट होता है, इसलिये 'आर्जव' दैवी सम्पद् है।

(१०) **अहिंसा**—द्वैतबुद्धि (मैं-मेरा, तू-तेरा, इसप्रकार की भेदबुद्धि) ही हिंसा का कारण है। जब उपर्युक्त दान, दम, यज्ञ स्वाध्याय, तप तथा आर्जव रूप दैवी सम्पद् से सम्पन्न होकर जिसको 'सर्वभूत में एक ही आत्मा अवस्थित है' ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है तभी उसके लिये पूर्ण अहिंसा सम्भव है क्योंकि आत्मा आत्मा की हिंसा नहीं करता है।

(११) **सत्य**—मायारचित समस्त दृश्य प्रपंच ही मिथ्या हैं अतः मिथ्या वस्तु का अवलम्बन कर सत्य बोलना (यथार्थ भाषण करना) असम्भव है। नाम, रूप

तथा क्रियात्मक सर्व मिथ्या वस्तुओं को हटाकर जब उनके अधिष्ठानस्वरूप सर्वात्मा पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में ही समस्त वाणी निबद्ध रहेगी तभी सत्य संभव होगा। दान से अहिंसा तक की दैवी सम्पदाओं से सम्पन्न होने पर इस प्रकार नित्य सत्य को आश्रय कर योगी सत्यवादी होता है। इसलिये भगवान् ने भी भागवत में कहा है—'किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्। वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥' अर्थात् हे उद्धवजी ! जब द्वैत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्व की सभी वस्तुएँ वाणी से कही जा सकती हैं अथवा मन से सोची जा सकती हैं; इसलिये एवं अनित्य होने के कारण उनका मिथ्यात्व तो निश्चय ही है।

(१२) **अक्रोध**—जब सर्व विषयों में मिथ्यात्व बुद्धि एवं आत्मा में सत्यत्व बुद्धि का दृढ़ निश्चय होता है तब उस सत्यस्वरूप आत्मा का अवलम्बन करके ही उसकी बातचीत तथा समस्त व्यवहार होते हैं। अतः मिथ्या-विषय के लिये उसके हृदय में काम का उदय होना सम्भव नहीं होता। काम या वासना जब किसी से प्रतिहत (बाधाप्राप्त) होती है तभी उस प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। अतः जिसमें काम ही नहीं है उसको किसी के प्रति क्रोध होना भी असम्भव है।

(१३) **त्याग**—सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है, इस प्रकार की बुद्धि से जब योगी काम तथा क्रोध से विमुक्त हो जाता है तब देह-इन्द्रियों में अज्ञान के कारण जो आत्मबुद्धि थी उसका 'त्याग' हो जाता है। इस प्रकार के त्याग को ही दैवीसम्पद् कहा जाता है क्योंकि अनात्म-देहादि में आत्मबुद्धि का त्याग न होने पर देव (शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा) का साक्षात्कार नहीं होता है। इसलिये वेद में कहा है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय—४०) [उस त्याग द्वारा ही अर्थात् जगत-बुद्धि तथा देहात्म-बुद्धि का त्याग कर परमात्मा की भावना को अवलम्बन कर आत्मा को पालन करो अर्थात् अविद्याजनित संसारधर्म से मुक्त होकर निरन्तर आत्मानुभूति करते रहो।]

(१४) **शान्ति**—उक्त प्रकार के त्याग से सर्वकर्मों का संन्यास हो जाता है अर्थात् देहादि के द्वारा कर्म करते हुए भी योगी जानता है कि गुणों से उत्पन्न हुए

देहादि, गुणों से उत्पन्न हुए विषयों में लिप्त हैं और मैं तो उन सबका साक्षी (द्रष्टा) हूँ एवं इस कारण से वह कर्म में आसक्त (लिप्त) नहीं होता है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से वासना तथा आसक्ति नहीं रहने के कारण उसके समस्त कर्मों का त्याग हो जाता है। वासना तथा कर्मप्रवृत्ति का त्याग होने पर मन संकल्प से शून्य होता है। यह संकल्पशून्यता या चित्तवृत्तिनिरोध ही परमशान्ति है। गीता में भी कहा है— 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२)। स्वच्छ (निर्मल), स्थिर दर्पण में जिस प्रकार मुख का प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार संकल्पशून्य, शान्त चित्त (बुद्धि) में शान्त, अचल आत्मा का प्रतिबिम्ब पूर्णरूप से प्रतिफलित होता है। अतः मनोनिवृत्तिरूप परमशान्ति देव (आत्मा) को प्रकट करनेवाली है, इसलिये 'शान्ति' दैवीसम्पद् है।

(१५) **अपैशुन**—परोक्ष में (पीठ-पीछे) परदोष के कीर्तन की प्रवृत्ति को 'पैशुन' कहते हैं, उसका अभाव अपैशुन है अर्थात् परोक्ष में परदोष का कीर्तन न करना ही अपैशुन है। जिसकी चित्तवृत्ति की उपशान्ति हो गई है उसकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त कोई पर (दूसरा) नहीं है। अतः कौन किसका दोष-कीर्तन करेगा ? इसलिये शान्ति के पश्चात् 'अपैशुन'रूप दैवीसम्पद् का होना स्वाभाविक ही है।

(१६) **भूतों में दया**—आत्मा सबसे प्रिय है। सर्वत्र आत्मा का अनुभव जो करता है उसका किसी भी स्थान में किसी का दुःख देखने से दुःखी होना एवं उसके सुख में सुखी होना स्वाभाविक है एवं ऐसा होना ही गीता में श्रीभगवान् ने परमयोगी का लक्षण बतलाया है (गीता ६।३२)। दूसरे के सुख में सुख एवं दुःख में दुःख का बोध करना ही यथार्थ दया है। सर्वत्र आत्मा को स्वीकार नहीं करने पर ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः इस प्रकार से सर्वभूतों में 'दया' आत्मसाक्षात्कार का हेतु होने के कारण दैवीसम्पद् है।

(१७) **अलोलुप्त्व (अलोलुपता)**—भोग्यवस्तु के रहने पर भी इन्द्रियोंमें किसी प्रकार के भी विकार का उत्पन्न न होना अलोलुपता है। इन्द्रियों के साथ विषय का संयोग विकार या बन्धन का कारण नहीं है परन्तु विषय के प्रति आसक्ति ही अनर्थ का हेतु है। आसक्ति से ही लोलुपता होती है। मरीचिका के जल में जब

मिथ्यात्व-बुद्धि का निश्चय हो जाता है तब तृष्णा के कारण प्राण-वियोग की संभावना रहने पर भी कोई पुरूप मरीचिका के जल को संग्रह करने के लिये नहीं जाता। उसी प्रकार मायारचित विश्वप्रपंच के सर्वविषयों में जब मिथ्यात्व बुद्धि का दृढ़ निश्चय हो जाता है तो इन्द्रियों द्वारा विषयों की प्रतीति होने पर भी उनमें सत्यत्वबुद्धि तथा आसक्ति के अभाव के कारण इन्द्रियों में कोई विकार होना सम्भव नहीं है। अतः 'सर्वभूतों में (सर्वत्र) एकमात्र आत्मा ही है' इसप्रकार के निश्चय के पश्चात् अलोलुपता-रूप दैवीसम्पद का आविर्भाव ज्ञानीयोगी में होना स्वाभाविक ही है।

(१८) **मार्दव**—मृदुता अर्थात् अक्रूरता। आत्मा के लिये प्रेम होना सब प्राणियों में ही स्वाभाविक है। इसलिये वेद में कहा है—'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेय एतस्मात् सर्वस्मात् (बृह० उ०) अर्थात् यह आत्मा पुत्र से प्रिय है, वित्त से प्रिय जगत में सब वस्तुओं से प्रिय है। इसलिये जो सर्वत्र सर्वभूतों में अपने आत्मा को ही देखता है, उसके लिये किसी के प्रति क्रूर होना या कठोर वाक्यों का प्रयोग करना संभव नहीं है क्योंकि जो प्रियतम (सबसे प्रिय) हैं उसके प्रति अप्रिय व्यवहार कैसे हो सकता है? अतः मृदुतारूप दैवी सम्पद् इस प्रकार सर्वत्र आत्मदर्शी योगी को स्वतः ही प्राप्त होती है।

(१९) **ह्री**—लज्जा। 'उपर्युक्त दैवीसम्पत्तियों से सम्पन्न होने पर अनादिकाल से अब तक आत्मा का तिरस्कार करके दुःखदायक एवं जन्म-मृत्यु के हेतु स्वरूप विषयों की सेवा मैंने की है; जिन देह, इन्द्रियादि तथा वाह्यविषयों ने मेरी निरन्तर सेवा लेते हुए भी सदा ही मुझे प्रतारणा की एवं मरीचिका के जल के समान जितना ही मैं उनके पीछे दौड़ा उतने ही वे मुझसे दूर-से-दूर चलते गये एवं कभी मेरा साथ नहीं दिया, जिस आत्मा ने मुझे कभी नहीं त्यागा, जिसकी सत्ता से मैं सत्तावान् हूँ, जिसकी चेतन शक्ति से मेरी जड़-बुद्धि तथा इन्द्रियों ने चेतन के समान कर्म किये, उसकी न तो मैंने कभी सेवा की और न उसके विषय में कभी चिन्तन ही किया'—इस प्रकार अपने अज्ञान को सोचकर ज्ञानी पुरूष को लज्जा होती है। असती नारी को अपने दुष्कर्म के लिये जब लज्जा होती है तब अपने पति के साथ मिलने के लिये तथा उसकी सेवा करने के लिये जिस प्रकार उसकी इच्छा होती है, उसी प्रकार यह लज्जा भी जागतिक

समस्त विषयों से तीव्र वैराग्य को उत्पन्न कर इसका परमपति जो आत्मा है उसके साथ मिलने के लिये, उसकी सेवा करने के लिये तथा उसके साथ निरन्तर रमण करने के लिये तीव्र संवेग उत्पन्न करती है। इसलिये यह दैवीसम्पद् है।

(२०) अचापल (अचापल्य)—चपलता से रहित होना। उक्त प्रकार की लज्जा से युक्त होकर जब ज्ञानी अपने परमपति में स्थितिलाभ करता है अर्थात् उसका चित्त उसमें ही समाहित रहता है तब वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियों की, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की, मन, बुद्धि आदि अन्तरेन्द्रियों की एवं प्राणों की भी चंचलता नहीं रहती है। इस प्रकार की चंचलतारहित अवस्था में ही आत्मा के साथ योग होता है। इसीलिये पातन्जल योग सूत्र में कहा गया है—'योगश्चितवृत्तिनिरोधः'। अतः यह भी दैवीसम्पद है।

(२१) तेजः—अचंचल चित्त में ब्रह्मज्योति का दर्शन करने के पश्चात् योगी तेज से सम्पन्न होता है क्योंकि तब वह जान लेता है कि मैं जड़ देह-इन्द्रियों का एक पिण्ड नहीं हूँ, मैं तो चित्स्वरूप, प्रकाशस्वरूप हूँ एवं मेरे प्रकाश से ही समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है। इसलिये यह दैवीसम्पद् है अर्थात् आत्मा को अभिन्नरूप से प्रकट करने वाली है।

(२२) क्षमा—सामर्थ्य के रहते हुए भी दूसरे के द्वारा किये हुए अपमान को सहन करके शान्त रहना क्षमा है। उक्त प्रकार से तेज से सम्पन्न होकर जब योगी जानता है कि 'मेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशित हैं' अर्थात् 'मैं ही सब कुछ हूँ' तो जैसे अपने एक हाथ से दूसरे हाथ को आघात करने पर जिस प्रकार उस पीड़न को बिना प्रतीकार के सहन कर लेता है उसी प्रकार दूसरे के द्वारा अपमानित या ताड़ित होने पर भी आत्मा में समाहित योगी किसी प्रकार से विचलित न होकर उसे सहन कर लेता है अर्थात् 'सब मैं ही हूँ' इस प्रकार की बुद्धि से सबको क्षमा कर देता है।

(२३) धृति—क्षमा से धृति उत्पन्न होती है। सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति इत्यादि के उपस्थित होने पर मन की किसी प्रकार विकार या चंचलता न होना ही धृति (धैर्य) का लक्षण है। आत्मा में स्थित होने पर ही इस प्रकार की धृति संभव होती है। अतः क्षमा एवं धृति को दैवीसम्पद् कहा गया है।

(२४) शौच—नित्य शुद्ध आत्मा में धृतिपूर्वक स्थिति होने पर ही सर्वप्रकार से शौच अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि का संभव है नहीं तो जब तक देह-इन्द्रियादि में आत्म-बुद्धि रहती है तब तक प्रकृति के अधीन भी रहना पड़ता है। प्रकृति या माया सदा ही अशुद्ध है क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हुई सभी वस्तुएँ विकारशील एवं नाशवान हैं तथा परस्पर में मिली हुई (संयुक्त) हैं अतः एक का दोष दूसरी को लिप्त कर देता है। शुद्ध आत्मा एक ही है अतः पाप-पुण्य, धर्म अधर्म, शुभ-अशुभ कोई भी वस्तु उसे लिप्त या दूषित नहीं कर सकती है इसलिये आत्मा में स्थिति ही अपने को सर्वप्रकार की अशुद्धि से रक्षा करने का उपाय है एवं इस प्रकार की शुद्धि (शौच) ही दैवीसम्पद् है तथा देव (आत्मा) के साथ एक हो जाने का उपाय है।

(२५) अद्रोह—दूसरे की हिंसा करने के लिये अस्त्रादि के ग्रहण करने को द्रोह कहते हैं। आत्मा में स्थित होकर सर्व वासना, कामना तथा द्वैतबुद्धि से रहित होकर पूर्णरूप से शुद्ध होने के पश्चात् दूसरे का अस्तित्व तथा अस्त्रादि के ग्रहण का प्रयोजन नहीं रह सकता है अर्थात् सर्वभूतों में एवं सर्वावस्था में अद्रोह ज्ञानी-व्यक्ति का स्वाभाविक लक्षण होता है।

(२६) नातिमानिता—आत्मनिष्ठा (आत्मा में स्थिति) के अभ्यास से जीवत्वबुद्धि ब्रह्मत्व में लय हो जाती है अतः 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं सबसे भाग्यवान हूँ, अतः मैं अतिशय पूज्य हूँ,' इस प्रकार के गर्व या अभिमान का भी संभव नहीं होता है। अतः नातिमानिता ही ब्रह्म और जीव के एकत्व-अनुभव का साक्षात् उपाय होने के कारण यह अन्तिम दैवीसम्पद् है क्योंकि इसके पश्चात् ही जीव देव अर्थात् स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त कर लेता है। एवं उसी अवस्था में समस्त पूर्वोक्त सम्पदाएँ (सम्पत्तियां) भी ब्रह्म में लीन हो जाती हैं।

मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति के लिये ऊपर वर्णित दैवीसम्पद् का ग्रहण करना उचित है, यह सूचित करके अब संक्षेप में एक श्लोक द्वारा आसुरी सम्पद् का वर्णन करते हैं क्योंकि इनका त्याग नहीं करने पर दैवीसम्पद् का विकास सम्भव नहीं है—

दम्भो दर्पोऽति*मानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! आसुरीम् सम्पदम् अभिजातस्य दम्भः दर्पः अतिमानः च क्रोधः पारुष्यम् एव च अज्ञानम् च [इति एतानि भवन्ति] ।

अनुवाद—हे पार्थ ! आसुरी सम्पद् लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य (कटुभाषण) और अज्ञान ये धर्म रहते हैं ।

भाष्यदीपिका । हे पार्थ !—हे अर्जुन ! [तुम अति शुद्ध पृथा के पुत्र हो अतः जिस आसुरीसम्पद् का वर्णन किया जा रहा है उसके तुम अयोग्य हो अर्थात् उस आसुरीसम्पद् का तुम्हारे अन्दर रहना सम्भव नहीं है । इस प्रकार का आश्वासन देने के लिये ही श्रीभगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' कहकर सम्बोधित किया ।] **आसुरीम् सम्पदम् अभिजातस्य**—आसुरी सम्पद् के सब लक्षणों को ग्रहण करके उत्पन्न हुए मनुष्य के अर्थात् जो असुरों की सम्पत्ति है, उससे युक्त होकर उत्पन्न हुए मनुष्य के [जो शरीर के आरम्भ के समय पापकर्मों के कारण अभिव्यक्त हुई आसुरी (असुरों के रमण के हेतुभूत रजोगुण तथा तमोगुणमयी) सम्पदाओं को अर्थात् अशुभ-वासना-समूह को लक्ष्य करके उत्पन्न हुआ है उस असत् पुरुष में (मधुसूदन)] **दम्भः**—अपने को धार्मिकरूप से प्रकट करना ही दम्भ है । इसी को धर्मध्वजीपन भी कहते हैं । **दर्पः**—धन-परिवार आदि के निमित्त से होने वाला गर्व । **अतिमानः**—अपने में अतिशय पूज्य होने की भावना [यह इसी अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों की व्याख्या में पहले ही वर्णित हो चुका है । शतपथश्रुति में कहा है कि देवता तथा असुर ये दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे । वे आपस में स्पर्धा करने लगे । तब असुरों ने अतिमान से विचार किया कि हम किसमें हवन करें, अतः उन्होंने अपने मुख में हवन किया । वे अत्यन्त मान के ही कारण पराभव (पराजय) को प्राप्त हुए । इसलिये कभी अतिमान नहीं करना चाहिए क्योंकि यह अतिमान पराजय का ही कारण है (ब्रह्मसूत्र १।३।१)] **क्रोधः**—अपने और पराये अपकार की प्रवृत्ति के हेतुभूत अन्तःकरण की ज्वलनात्मिक

---

*अभिमान इति वा पाठः ।

वृत्तिविशेष को क्रोध कहा जाता है (मधुसूदन)। **पारुष्यम् एव च**—कठोरवचन। जैसे आक्षेप करके काने को अच्छे नेत्रवाला, कुरूप को रूपवान् तथा हीन जातिवाले के उत्तम जातिवाला बतलाना इत्यादि। [प्रत्यक्षरूप से अर्थात् मुंह पर कटुभाषण को स्वभाव को पारुष्य कहा जाता है। यहाँ 'च' शब्द जिनका उल्लेख नहीं हुआ है उन चपलतादि दूसरे दोषों के समुच्चय के लिये है (मधुसूदन)] **अज्ञानम् च**—अविवेक अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य आदि के विषय के विवेक का अभाव (उल्टा निश्चय करना)। यहाँ 'च' शब्द जिन अभावरूप दोषों का उल्लेख नहीं किया गया है उन अधृति, अक्षमा इत्यादि अन्यान्य आसुरी सम्पदाओं के समुच्चय के लिये है। [**इति एतानि भवन्ति**]—दम्भ, दर्प, इत्यादि छः प्रधान दोष तथा उनके आनुषङ्गिक दोषसमूह अभिव्यक्त (प्रकट) होते हैं अर्थात् जो आसुरीसम्पद् को (अशुभ-वासना समूहों को) लक्ष्य करके उत्पन्न हुआ है उस असत् पुरुष में दम्भ से लेकर अज्ञान पर्यन्त दोष ही रहते हैं, एक से तीन तक के श्लोकों में वर्णित अभय आदि गुण नहीं रहते—यही कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—आसुरीसम्पद् का वर्णन करते हैं—**हे पार्थ !**—हे अर्जुन ! **दम्भः**—धर्मध्वजिता, **दर्पः**—धन, विद्या आदि के कारण चित्त में गर्व का होना, **अभिमानः**—इस शब्द की व्याख्या तीसरे श्लोक में 'अतिमानिता' के प्रसङ्ग में की जा चुकी है। **क्रोधः**—यह तो प्रसिद्ध ही है। **पारुष्यम् एव च**—निष्ठुरता भी तथा **अज्ञानम् च**—अविवेक, **आसुरीं सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति**—'आसुरी' शब्द से उपलक्षण द्वारा राक्षसी शब्द का भी ग्रहण किया गया है। असुरों तथा राक्षसों की जो सम्पत्ति है वह आसुरी है, इस प्रकार से अर्थ करना पड़ेगा। उस आसुरी सम्पत्ति को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए मनुष्य के इस श्लोक में उल्लिखित दम्भ, दर्प आदि लक्षण होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**—दैवीसम्पद् को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए पुरुष में अभय आदि मोक्ष के हेतुभूत सात्त्विक गुणों की उत्पत्ति देखी जाती है, ऐसा प्रतिपादन करके आसुरीसम्पद् को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए पुरुष में जो गुण होते हैं उन्हें कहते हैं—**दम्भः**—वेष, भाषा और आचार आदि से अपना महत्त्व प्रसिद्ध करने के लिये स्वयं

ही अपने कुल, शील, विद्या तथा आचार के महत्त्व को प्रकट करना दम्भ है। **दर्पः**—विद्या, रूप, कुल, धन, कर्म आदि से चित्त में जो उद्रेक उत्पन्न होता है एवं जो कि सत्पुरुषों के अपमान का हेतु होता है उसे दर्प कहते हैं **अतिमानः**—अपने में ही उत्कृष्ट बुद्धि का मानना अतिमान है, **क्रोधः**—दूसरे से किये हुए अपकार से चित्त में उत्पन्न हुआ जो क्षोभ महान् अनर्थ का हेतु होता है, वह क्रोध है। **पारुष्यम् एव च**—कठोर (निष्ठुर) भाषा पारुष है, उसका भाव 'पारुष्य' है। 'च' कार समुच्चय के अर्थ में है। 'इसकी स्वप्न में भी कोमल वाणी नहीं होती है,' अतः कोमल वाणी बोलने वाले से इस प्रकार कठोर वाणी बोलने वाले को पृथक् करने के लिये 'एव' कार है। **अज्ञानम् च**—सत् और असत् के विवेक का अभाव। 'च' कार से उसके (अज्ञान के) कार्य को भी ग्रहण किया गया है। **आसुरीम् सम्पदम् अभिजातस्य (भवन्ति)**—दम्भ से लेकर अज्ञान तक ये छः रजोगुण और तमोगुण के धर्म हैं। आसुरीसम्पद् 'रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्' (रज को रागात्मक जानो, वह तृष्णासङ्ग से उत्पन्न हुआ है) तथा 'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्' (सब देहधारियों के मोहकारक तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो) (गीता १४।७–८), इसप्रकार उक्त होने के कारण घोर कर्म कराने के लिये जो रजोगुण एवं तमोगुण पुरुष के असु को (प्राणों को तथा इन्द्रियों को) आकर्षण करता (खींचता) है, वह असुर है अर्थात् रजोगुणी तथा तमोगुणी असुर हैं। असुर की सम्बन्धिनी सम्पद् (समृद्धि या उत्कर्ष) को आसुरी सम्पद् कहा जाता है। इस प्रकार आसुरी सम्पद् में अभिजातों के (पूर्वजन्म के पापों की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण की अधिकता के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुष के) पूर्वोक्त दम्भ आदि छः दोष होते हैं। अथवा असुरों की सम्पद् आसुरी सम्पद् है, उस आसुरी सम्पद में अभिजात दुरात्मा पुरुष के (भावी अनर्थ के पात्र के) ये सब दोष होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोकों की टीका में कहा गया है कि पूर्व-पूर्व जन्मों के यज्ञ, दान, तपस्या आदि शुभ कर्मों के फल से सात्त्विक संस्कार तथा वासना से सम्पन्न होकर जो सत् कुल में जन्म लेता है, उसकी स्वतः ही परमात्मा के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक उस मोक्षरूप परमपद के प्रति गति होती है जिस पद को

कि प्राप्त होकर फिर संसार में लौटना नहीं पड़ता। अभय सत्त्वसंशुद्धि इत्यादि छब्बीस सम्पद् देव अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा को (अपनी बुद्धि में) अपने आत्मा से अभिन्नरूप से साक्षात्कार करने में सहायक होती हैं, इसलिये उन्हे दैवीसम्पद् कहा जाता है। किन्तु पूर्व जन्म में जो पापादि कर्मों में लिप्त रहने के कारण रज एवं तमोगुण से अभिभूत होकर देह को ही आत्मा मानता था, इस जन्म में भी वह केवल देह इन्द्रियादि की तृप्ति के लिये घोर कर्म में प्रवृत्त होता है, जिस कर्म के कि फलरूप से हजारों मनुष्यों को दुःख सहन करना पड़ता है। इस प्रकार प्रबल रज तथा तमोगुण से जिन सर्वथा अनर्थकर दोषों की उत्पत्ति होती है वे आसुरी सम्पद् कहलाते हैं क्योंकि 'घोरं कर्म कारयितुं पुरुषस्याऽसून् प्राणानिन्द्रियाणि च रात्याकर्षतीत्यसुरः' अर्थात् रज तथा तमोगुण प्रवल होने के कारण जिस पुरुष के असु को (प्राणों को तथा इन्द्रियों को) घोर कर्म कराने के लिये आकर्षण करता (खींचता) है, वह असुर है। इस प्रकार असुरत्त्व की बृद्धि करने वाले जो-जो दोष हैं उन्हे आसुरी सम्पद् कहते हैं। यह सम्पद् पूर्वजन्म के अधिक पापों के फलस्वरूप से जो पुरुष प्रबल रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होकर अभिजात [पापकी ओर अर्थात् पाप कर्म करने के लिये ही जात (उत्पन्न)] होता है, उसमें दिखाई देती है। अतः आसुरी सम्पद् दैवीसम्पद् से सम्पूर्णतः पृथक् (विपरीत) है, क्योंकि (१) दैवी सम्पद् में सात्त्विकी शुभवासनाएँ रहती हैं एवं सत्त्वगुण से सुख एवं ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः दैवी सम्पद् तत्त्वज्ञान को उत्पन्नकर सुखस्वरूप परमात्मा में पहुँचा देती है। और आसुरी सम्पद् में रजोगुण की प्रबलता रहने के कारण राग या विषयासक्ति उत्तरोत्तर बृद्धि को प्राप्त होती है एवं तमोगुण की प्रबलता के कारण प्रमाद, मोह तथा अज्ञान भी उत्तरोत्तर बृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिये भगवान् आगे (पांचवें श्लोक में) कहेंगे कि दैवीसम्पद् संसार से विशेषरूप से मोक्ष का कारण होती है तथा आसुरी सम्पद् संसार में विशेषरूप (पूर्णरूप) से बन्धन का कारण होती है। (२) जो गुण या बृत्ति परमात्मा देव को प्रकाशित करने के लिये होती हैं वह दैवी सम्पद् मानी जाती हैं एवं जो गुण या बृत्ति केवल अहंकार का ख्यापन (प्रकाश) करने के लिये होती हैं, वह आसुरी सम्पद् हैं। इसलिये भी दैवी सम्पद् मोक्ष में पहुँचा देती है तथा आसुरी सम्पद् संसार-बन्धन में डाल देती है।

अब प्रश्न होगा कि वे कौन-कौन से विशेष दोष हैं जिन्हे कि आसुरी सम्पद् कहा जाता है ? वे इसप्रकार हैं—

(१) **दम्भ**—धर्मादि कर्मों का अनुष्ठान भी जब केवल अपना धार्मिकत्व (धर्मध्वजित्व) प्रचार करने के लिये किया जाता है किन्तु भगवान् की प्राप्ति के हेतु-भूत चित्तशुद्धि के उद्देश्य से नहीं, तब उसे दम्भ कहा जाता है। इसप्रकार दम्भी का सर्व कर्म देहात्मबुद्धि से ही होता है, इसलिये यह बन्धन का कारण है।

(२) **दर्प**—'मैं धनी हूँ, मैंने उच्चकुल में जन्म लिया है, मेरे स्वजनादि बहुत ही प्रतिष्ठित एवं समृद्धिशाली हैं, जिसकी लोग महात्मा कह कर पूजा कर रहे हैं वह तो भिखारी है, अतः मेरे समान वह कैसे हो सकता है'—इस प्रकार का गर्व तथा उस गर्व से महान् व्यक्तियों का भी अपमान करने की प्रवृत्ति को दर्प कहा जाता है। यह दर्प रज तथा तमोगुण की प्रबलता से ही अर्थात् देह एवं देह सम्बन्धियों में आसक्ति तथा अत्यन्त मोह एवं अज्ञान से ही होता है; अतः यह आसुरी सम्पद् होने से संसार-बन्धन का कारण है, क्योंकि उसकी दृष्टि भौतिक शरीर में ही रहती है आत्मा के प्रति नहीं।

(३) **अभिमान या अतिमान**—'मैं (अर्थात् मेरी देहादि) सबसे पूज्य हूँ, अतः सबको मुझे मान देना अथवा मेरी पूजा करना उचित है'—इस प्रकार अपने में श्रेष्ठत्व का आरोप करना अभिमान या अतिमान है। यह भी उपरोक्त कारण से आसुरी सम्पद् है।

(४) **क्रोध**—अपनी कामनाओं (वासनाओं का जो प्रतिबन्धक (प्रतिकूल) होता है, उसका अपकार करने की प्रवृत्ति होने के कारण मुख, नेत्र आदि के नानाप्रकार के विकारों के लक्षणों के साथ अन्तःकरण में जो जलनात्मक वृत्ति-विशेष उत्पन्न होती है, वह क्रोध है। इस क्रोध से ही हिंसावृत्ति का उदय होता है अतः यह दैवी सम्पद् का विरोधी होने के कारण तथा देहात्म-बुद्धि का अवलम्बन करके ही इसकी उत्पत्ति होने के कारण आसुरी सम्पद् है तथा संसार-बन्धन का हेतु है।

(५) **पारुष्य**—प्रत्यक्षरूप से अर्थात् मुख पर कठोर भाषा के बोलने को पारुष्य कहते हैं। यह दया, मार्दव (मृदुता) इत्यादि दैवी सम्पदाओं का विरोधी है।

तमोगुण की प्रबलता से ही इस प्रकार से कठोर भाषा बोलने की प्रवृत्ति होती है, अतः यह भी आसुरी सम्पद् होने के कारण संसार-बन्धन का कारण होता है।

(६) **अज्ञानता**—कर्त्तव्याकर्त्तव्यबुद्धिहीनता अर्थात् अत्यन्त मुढ़ता। यह भी प्रबल तमोगुण का ही कार्य है तथा ज्ञानरूप दैवी सम्पद् का विरोधी होने के कारण आसुरी सम्पद् है एवं संसार-बन्धन का हेतु है।

दम्भ की वृद्धि होने पर दर्प स्वतः ही उत्पन्न होता है; दर्प से अतिमान या अभिमान होता है। दूसरे से अभिलषित मान के प्राप्त न होने पर क्रोध उपस्थित होता है, क्रोध होने पर पारुष्य (कठोर वचन बोलना) स्वाभाविक है। एवं ये पांचों दोष या अज्ञानता या मूढ़ता की वृद्धि में सहायक होते हैं और इन्द्रियों को तथा प्राणों को घोर (निष्ठुर एवं अहितकर) कर्म कराने के लिये आकर्षित करते (खींचते) हैं। इसलिये ये सब आसुरी सम्पद् हैं एवं इन कर्मों के फल का भोग करने के लिये संसार-चक्र में भ्रमण कराती हैं। दैवी सम्पद् मुमुक्षुयोगी को एक, अखण्ड, अद्वय आत्मा में पहूँचा देती है अतः अनन्त नाम-रूपात्मक संसारप्रपञ्च उसके लिये विनष्ट हो जाता है। और आसुरी सम्पद् अहंकार का आश्रय करके रहने के कारण 'मैं–मेरा' इत्यादि नानात्वबुद्धि (भेदबुद्धि) से मिथ्या संसार-प्रपञ्च में ही आसक्त (लिप्त) करके रखती है एवं इसलिये मृत्यु से मृत्यु में ही लेजाती है। श्रुति में भी कहा है–'मृत्यो; स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० उ० २।१।१०)।

अब इन दोनों (दैवी तथा आसुरी) सम्पदाओं के कार्य (फलों का विभाग) दिखाते हुए कहते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अन्वय—दैवी सम्पद् विमोक्षाय, आसुरी (सम्पद्) निबन्धाय मता। हे पाण्डव ? मा शुचः (यतः त्वम्) दैवीं सम्पदम् अभिजातः असि।

अनुवाद—हे अर्जुन ! दैवीसम्पद् मोक्ष के लिये तथा आसुरी सम्पद् बन्धन के लिये मानी गई है तुम शोक न करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पत् को लक्ष्य बनाकर (अर्थात् दैवीसम्पद् से सम्पन्न होने के लिये) उत्पन्न हुए हो।

भाष्यदीपिका—दैवी सम्पद् विमोक्षाय—जो दैवी सम्पत्ति है [अर्थात् अभय, सत्त्वसंशुद्धि इत्यादि जो शुभ सम्पत्ति (१-३) श्लोकों में कही गई है] वह तो संसारबन्धन से मुक्त करने के लिये है [जिस वर्ण और जिस आश्रय के लिये जो सात्त्विकी निष्काम कर्तव्य क्रिया विहित है एवं जो लक्षण (१-३) श्लोकों में कहे गये हैं वही उसकी दैवी सम्पद् है। इस दैवी सम्पद् का विकास होने पर सत्त्व (चित्त) शुद्धि होती है एवं भगवद्भक्ति से आत्मस्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होता है तथा उस तत्त्वज्ञान से योग की (भगवान् के साथ एकत्वानुभूति की) एवं उसमें स्थिति की अर्थात् ब्राह्मीस्थिति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की स्थिति से (ज्ञाननिष्ठा से) अज्ञान नष्ट हो जाता है अतः अज्ञानजनित संसार-बन्धनादि की निवृत्ति तथा विमोक्ष (मोक्ष की विशेष अवस्था अर्थात् कैवल्य) की प्राप्ति होती है। अतः कल्याण-कामियों के लिये वही दैवीसम्पद् ग्राह्य (ग्रहण के योग्य) है (मधुसूदन)] **आसुरी (सम्पद्) निबन्धाय**—तथा आसुरी (राक्षसी) सम्पद् नि (निःसंदेह) अर्थात् निश्चित रूप से बन्धन के लिये मानी गई है [जिस वर्ण या आश्रमवासी के लिये जो-जो राजसी-तामसी शास्त्र में निषिद्ध है वह जब फलाकांक्षापूर्वक और अहंकार सहित किया जाता है तब वह उसकी आसुरी सम्पद् होती है। वस्तुतः शास्त्र में निषिद्ध राजसिक तथा तामसिक क्रिया को यथाक्रम से आसुरी तथा राक्षसी सम्पद् कहा जाता है। परन्तु श्लोक में राक्षसी सम्पद् का पृथक् निर्देश न कर उसे आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत ही माना गया है यह राक्षसी तथा आसुरी सम्पद् नि अर्थात् निश्चित रूप से बन्धाय अर्थात् संसार-बन्धन के लिये है यानी वह जन्म-मृत्यु रूप संसार-चक्र में भ्रमण का कारण होती है (मधुसूदन)] **मता**—यही अभिप्रेत है अर्थात् शास्त्रों के एवं जो लोग शास्त्र के अनुसार चलते हैं उनके अभिमत है (उनसे ऐसी ही मानी जाती है)। अतः कल्याण की इच्छावालों के लिये तो आसुरी तथा राक्षसी सम्पद् सर्व प्रकार से त्याज्य ही है।

इस प्रकार कहने पर अर्जुन के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ देखकर कि 'क्या मैं आसुरी सम्पद् से युक्त हूँ अथवा दैवी सम्पद् से ?' भगवान् इस संशय का निराकरण करने के लिये बोले—हे **पाण्डव ! मा शुचः**—हे पाण्डव (अर्जुन) !

शोक मत करो। **दैवीं सम्पदम् अभिजातः असि**—तुम दैवीसम्पद् को अभिलक्ष्य करके अर्थात् दैवीसम्पद् से भूषित होने के लिए उत्पन्न हुए हो। अतः भविष्य में तुम्हारा कल्याण होने वाला है [तुमने पहले भी कल्याण का उपार्जन किया, अतः भविष्य में भी तुम्हारा कल्याण होगा। 'हे पाण्डव'! इस सम्बोधन का यह भाव है कि जब दूसरे पाण्डव पुत्रों में भी दैवी सम्पद् प्रसिद्ध है तो फिर तुममें भी है—इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् तुम दैवी सम्पद् से सम्पन्न होने के कारण मोक्ष के अधिकारी हो (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इन दोनों सम्पदाओं का कार्य अर्थात् फल दिखाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—**दैवी सम्पद् विमोक्षाय आसुरी निबन्धाय मता**—दैवी सम्पद् संसार से मुक्ति का और आसुरी सम्पद् बन्धन का कारण मानी गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो दैवी सम्पद् पूर्ववर्ती श्लोकों में कही गई है उससे सम्पन्न (युक्त) हुआ साधक मेरे द्वारा बताये हुए तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है और जो मनुष्य आसुरी सम्पद् से युक्त है वह सदा संसारी ही रहता है। इस बात को सुनकर 'क्या मैं मोक्ष के लिये अधिकारी हूँ या नहीं' ? इस संदेह से व्याकुल हुए चित्त वाले अर्जुन को श्रीभगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—**हे पाण्डव मा शुचः**—हे पाण्डव (अर्जुन)! तुम शोक मत करो क्योंकि **दैवी सम्पदम् अभिजातः असि**—तुम दैवी सम्पत् को सम्मुख (लक्ष्य) करके उत्पन्न हुए हो।

(२) शंकरानन्द—दैवी और आसुरी इन दोनों सम्पदाओं का कार्य (फल) कहते हैं—**दैवी सम्पद् विमोक्षाय**—'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' इत्यादि से जो दैवी सम्पद् कही गई है, वह विमोक्ष के लिये है अर्थात् संसाररूप बन्धन से विशेषरूप से मुक्ति प्राप्त करने के लिये होती है। इसलिये दैवी सम्पद् से युक्त पुरुष ही असम्मूढ़ (विवेकी) होकर ज्ञान का अधिकारी होता है। **आसुरी निबन्धाय**—आसुरी सम्पद् से युक्त पुरुष संसार-बन्धन से छूटने के लिये समर्थ नहीं होता है क्योंकि वह सम्यक् प्रकार से मूढ़ (मोहग्रस्त) होने के कारण ज्ञान का अधिकारी नहीं होता है, ऐसा सूचित करने के लिये आसुरी सम्पद् का बन्धकत्व कहते हैं अर्थात् दम्भ, दर्प इत्यादि से कही गई जो आसुरी सम्पद् है, वह संसार-बन्धन के लिये होती है। **मता**—

ऐसा माना गया है अर्थात् आसुरी सम्पद् कभी भी मोक्ष के लिये योग्य नहीं होती, यह मैंने निश्चय किया है।

'तब मैं आसुरी संम्पद् वाला हूँ अथवा दैवीसम्पद वाला हूँ' ऐसे संदेह से युक्त अर्जुन को देखकर उसके संशय को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं—**हे पाण्डव मा शुचः, दैवीं सम्पदम् अभिजातः असि**—हे अर्जुन! तुम दैवी सम्पद् में (दैवीसम्पद् को लक्ष्य करके) उत्पन्न हुए हो। उससे युक्त होकर तुम संसार से छूट जाओगे। अतः शोक मत करो अर्थात् इस विषय में चिन्ता मत करो।

(३) **नारायणी टीका**—जो पूर्वजन्म की सुकृति से दैवीसम्पद् से युक्त होकर जन्म लिये हैं वे सर्वदुःखनिवृत्तिरूप परमानन्दस्वरूप मोक्षपद की प्राप्ति कर लेते हैं। परन्तु आसुरी तथा राक्षसी सम्पद्युक्त होकर जो जन्म लेते हैं वे संसार में पुनः पुनः बद्ध होते रहते हैं। [किसप्रकार से दैवी सम्पद्रूप से वर्णित गुणसमूह मोक्ष के तथा राक्षसी एवं आसुरी दोषसमूह संसारबन्धन के कारण होते हैं, यह पूर्व श्लोकों की नारायणी टीका में स्पष्ट किया गया है।] ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में जिन शुभ सात्त्विक संस्कारों से प्रेरित होकर अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म फल की आकांक्षा से शून्य होकर भगवदर्पण बुद्धि से किये जाते हैं वे संस्कार ही उस-उस वर्ण में स्थित मनुष्य की दैवीसम्पद् है। अपने-अपने आश्रम तथा वर्णोचित कर्म फलाकांक्षा-शून्य होकर (निष्काम भाव से) ईश्वरार्पणबुद्धि से करने पर यथाक्रम से चित्तशुद्धि, भगवद्भक्ति, समाधिरूप योग, तत्त्वज्ञान एवं अन्त में ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्वज्ञान में स्थितिलाभ होता है। इसप्रकार निरन्तर ब्राह्मीस्थिति से ही मोक्षपद प्राप्त होता है। परन्तु जो समस्त कर्म शास्त्र से निषिद्ध हैं तथा फल की आकांक्षा से एवं अहंकार की तृप्ति के लिये ही किये जाते हैं वे आसुरी सम्पद् हैं (राक्षसी सम्पद् को भी यहाँ आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत ही माना गया है)। दम्भ, दर्प आदि आसुरी सम्पद् से युक्त व्यक्ति शास्त्र का प्रमाण तथा विधान नहीं मानता है। इसलिये वह स्वेच्छाचारी होकर देह-इन्द्रियादि के तृप्ति के अनुकूल कर्म करने में सदा ही तत्पर रहता है—इससे दूसरे के सुख-दुःख की भावना उसके मनमें नहीं रहती। अतः आसुरी प्रकृति से सम्पन्न व्यक्ति सदा ही देहात्मबोध में बद्ध रहने के कारण बारंबार संसार में जन्मग्रहण करके अधः से

अधः गति को प्राप्त होता है। इसलिये आसुरी सम्पद् नि (नियतरूप से) अर्थात् निश्चितरूप से संसारबन्धन का कारण होती है।

अर्जुन युद्धक्षेत्र में भगवान् के मुख से गीता का उपदेश सुन रहा है। सामने विपक्षीय सेना उपस्थित है एवं भगवान् भी अर्जुन को युद्ध करने के लिये बार-बार प्रेरणा दे रहे हैं। किन्तु युद्ध में क्रोध, पारुष्य (कठोर वचन), दम्भ, दर्प इत्यादि का व्यवहार अर्जुन को भी करना पड़ेगा, इसलिये अर्जुन के मन में शंका होगी कि 'तब क्या मैं आसुरी सम्पद् विशिष्ट हूँ ?' इस शंका का निवारण करने के लिये भगवान् कह रहे हैं कि तुम पाण्डव हो (अर्थात् तुम पाण्डु के कुल में उत्पन्न हुए हो)। 'पाण्डु' शब्द का अर्थ है शुद्धबुद्धि। जहाँ विवेक-विचार तथा शुद्धबुद्धि है वहाँ आसुरी सम्पद् का स्थान कैसे हो सकता है ? अतः तुम इस विषयपर शोक न करो क्योंकि तुम तो दैवी सम्पद् को लक्ष्य करके ही अर्थात् दैवीसम्पद् से युक्त होने की सामर्थ्य (शुभ-संस्कार) लेकर ही पाण्डु के कुल में जन्मग्रहण किये हो। तुम स्वजन तथा गुरुजनों के वध करने में अनिच्छुक हो, । हिंसाबुद्धि से तुम युद्ध नहीं कर रहे हो। शास्त्र के अनुशासन के अनुसार युद्ध ही क्षत्रिय का कर्तव्य है, यह मानकर तुम युद्ध कर रहे हो। जिससे आसुरी-भाव न आ सके इसलिये ही अहंकार (कर्तृत्वाभिमान) तथा युद्धरूप कर्म के फल की आकांक्षा को त्याग करके "अन्तर्यामी पुरुषोत्तम परमात्मा ही मेरी बुद्धि के सारथी (प्रेरक) रूप से मुझे इस घोर कर्म में प्रवृत्त कर रहा है", इसप्रकार सोचकर सर्वकर्म तथा फल मुझे ही अर्पण करते हुए युद्ध करने के लिये मैं तुमसे कह रहा हूँ। यह संसार मेरा नाटक है, किससे क्या कराऊंगा ?' यह तो मैंने पहले ही निश्चय कर लिया है, जैसे नाटक के ग्रन्थ में समस्त नाटक की क्रियायें यथाक्रम से पहले ही लिपिबद्ध होती हैं। अतः दर्प, दम्भ, क्रोध, पारुष्य इत्यादि का व्यवहार यदि नाट्यकारके समान मुझ अन्तर्यामी से प्रेरित होकर किया जाता है अर्थात् उस कर्म में अहंकार तथा फलाकांक्षा नहीं रहती है, तो वे आसुरी सम्पद् न होकर दैवीसम्पद् ही होती है। अतः जिसप्रकार नाट्यकार सब कुछ करते हुए भी उसके कर्ण तथा मन के ध्यान प्रोत्साहक (Prompter) के प्रति ही निबद्ध रहते हैं, उसीप्रकार युद्ध-कर्म में हिंसा, क्रोध, पारुष्य, दम्भ, दर्प इत्यादि क्रियाओं का सम्पादन करते हुए भी तुम मुझमें ही

चित्त को निबद्ध रख कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर अन्त में मेरा यथार्थस्वरूप जो मोक्षपद है, उसे प्राप्त हो जाओगे अर्थात् संसार से वि (विशेषरूप से) मोक्ष प्राप्त कर लोगे जिसको कि प्राप्त होकर और कभी संसार में लौटना नहीं पड़ेगा—यही श्रीभगवान् के कहने का तात्पर्य है (गीता ६।२७-२८ द्रष्टव्य)।

जो शास्त्रनिषिद्ध कर्म में रत (तत्पर) हैं वे राजसी या तामसी प्रकृति से सम्पन्न होते हैं। उनमें से राजसी प्रकृतिवालो को कामोपभोग की (अर्थात् सबके स्वार्थ को बलिदान कर अपनी वासनापूर्ति करने की) प्रवृत्ति प्रबल रहने के कारण उनको आसुरी सम्पद् से सम्पन्न कहा जाता है। और जो लोग तामसी प्रकृति से युक्त हैं उनमें प्राणि-हिंसा की प्रवृत्ति प्रबल रहने के कारण उनको राक्षसीसम्पद् सम्पन्न कहते हैं। इस अध्याय में राक्षसी प्रकृति को आसुरी प्रकृति के अन्तर्भूत किया गया है, इसे पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। अब प्रश्न होगा कि मानुषप्रकृति तो इनसे भिन्न तीसरी ही है क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि—'त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य-मूषुर्देवा मनुष्या असुराः' (प्रजापति के तीन पुत्र देवता, मनुष्य और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निवास किया—(वृ० उ०)। अतः इस श्रुतिवाक्य से यह सिद्ध होता है कि मनुष्यप्रकृति दैवीप्रकृति तथा आसुरी प्रकृति से विलक्षण है। अतः यह तृतीय प्रकार की मानुष-प्रकृति कैसी है एवं यह हेय (त्यागने के योग्य) अथवा उपादेय (ग्रहण के योग्य) है, यह जानने के लिये उत्सुक अर्जुन से भगवान् कहते हैं कि—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अन्वय—हे पार्थ! अस्मिन् लोके दैवः आसुरः एव च इति द्वौ भूतसर्गौ (स्तः)। (तत्र) दैवः विस्तरशः प्रोक्तः (अधुना) आसुरं मे शृणु।

अनुवाद—हे पार्थ (अर्जुन)! इस लोक में दैव तथा आसुर, इन दो प्रकारके मनुष्यों की सृष्टि है। दैवी सृष्टि का विस्तारपूर्वक वर्णन हो चुका। अब तुम मुझसे आसुरी सृष्टि का वर्णन सुनो।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ !—हे अर्जुन ! [तुम मेरी पितृस्वसा (बुआ) पृथा के पुत्र हो, अतः तुम्हीं मेरे निकट के आत्मीय हो । इसलिये तुमको मैं जो कह रहा हूँ वह तुम्हारे कल्याण के लिये ही है क्योंकि इससे तुम दैवीप्रकृति को पुष्ट कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर कृतकृतार्थ हो सकोगे—इसप्रकार आश्वासन देने के लिये ही भगवान् ने अर्जुन को यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधित किया ।]

अस्मिन् लोके—इस संसार में **द्वौ भूतसर्गौ**—मनुष्य की दो सृष्टियाँ हैं । जिसकी रचना की जाय वह सृष्टि है । अतः दैवीसम्पद् तथा आसुरी सम्पद् से युक्त (रचे हुए) प्राणी ही यहाँ भूतसृष्टि के नाम से कहे जाते हैं [मनुष्य को ही संसार बन्धन तथा मोक्ष का ज्ञान है । अतः यहां 'भूतसर्ग' शब्द का अर्थ है मनुष्यसर्ग अर्थात् मनुष्य सृष्टि] वे कौन से दो भूतसर्ग (मनुष्यसर्ग) हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—**दैवः आसुरः एव च**—इस प्रकरण में कही हुई दैवी एवं आसुरी सृष्टि ही वे दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं । [इनके अतिरिक्त राक्षस और मानुष नाम से कोई तीसरा सर्ग (सृष्टि) नहीं है, यही 'एव' शब्द का तात्पर्य है । जिस समय जो मनुष्य शास्त्र के संस्कारों की प्रबलता से स्वभावसिद्ध राग-द्वेष को अभिभूत कर (दबाकर) धर्मपरायण होता है, उस समय वह देवता है, और जिस समय वह स्वभावसिद्ध राग-द्वेष की प्रबलता से शास्त्र के संस्कारों को अभिभूत कर (दबाकर) अधर्म परायण होता है, उस समय वह असुर है । इसप्रकार उसकी द्विविधता (दो प्रकारता) होना सम्भव है । धर्म और अधर्म से भिन्न कोई तीसरी कोटि (पक्ष) है ही नहीं, यही बात श्रुति से भी सिद्ध होती है—'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ततः कनीयसा एव देवः, ज्यायसा असुराः' (प्रजापति के दो पुत्र थे—देव तथा असुर; उनमें देव छोटे थे और असुर बड़े ।) किन्तु श्रुति में दूसरे वाक्य में 'त्रयः प्राजापत्याः' अर्थात् प्रजापतिने देव, मनुष्य एवं असुर के लिये यथाक्रम से दम, दान और दया की विधि की है । अतः इससे शंका हो सकती है कि केवल दैवी एवं आसुरी सृष्टि ही नहीं है परन्तु मनुष्य सृष्टि भी वेद में प्रतिपादित हुई हैं । उत्तर में कहा जायगा कि दम, दान और दया से रहित मनुष्य ही वस्तुतः असुर है एवं वही जब देवता के साधनों को प्राप्त होता है अर्थात् दैवी सम्पद् से सम्पन्न होता है तब वह उपचार से देव कहा जाता है । अतः कोटि की

अधिकता के लिये अवकाश नहीं है। प्रजापति ने 'द' इस एक ही अक्षर से दमरहित मनुष्य को दम का उपदेश किया है, दानहीनों को दान का उपदेश किया है तथा दयाहीनों को दया का उपदेश किया है। इससे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे देव, मनुष्य तथा असुर विजातीय ही हैं क्योंकि शास्त्रोक्त उपदेश में तो मनुष्य का ही अधिकार है। ऐसा ही अन्त में श्रुति उपसंहार करती है—'तदेतकेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति।' [मेघ की द, द, द ऐसी गर्जन इस दैव वाणी का ही अनुवाद करती है, अर्थात् दाम्यत (दमन करो), दत्त (दान दो), दयध्वम् (दया करो)। अतः दम, दान और दया—इन तीनों की शिक्षा ग्रहण करे।] इसलिये राक्षसी एवं मानुषी प्रकृति आसुरी प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं, इसलिये 'दो भूतसर्ग हैं' यह कथन ठीक ही है। **तत्र दैवः विस्तरशः प्रोक्तः**—[कही हुई दोनों सृष्टियों का पुनः अनुवाद करने का कारण बतलाते हैं-] दैवीसृष्टि का वर्णन तो 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' इत्यादि श्लोकों द्वारा विस्तार पूर्वक किया गया [अर्थात् दैवभूतसर्ग तो मैंने तुम्हें दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में, बारहवें अध्याय में भक्तों के लक्षणों में, तेरहवें अध्याय में ज्ञानी के लक्षणों में, चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षणों में और इस अध्याय में 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' इत्यादि श्लोकों से विस्तारपूर्वक सुना दिये हैं] **आसुरम् मे शृणु**—परन्तु आसुरी सृष्टि का वर्णन विस्तार से नहीं हुआ। अतः उसका त्याग करने के लिये उस आसुरी सृष्टि को तुम मुझसे (मेरे वचनों से) विस्तार पूर्वक सुनो अर्थात् ध्यान देकर समझो। [क्योंकि जिसके स्वरूप को भली प्रकार से समझ लिया जाता है उसका ही त्याग किया जा सकता है (मधुसूदन)। अतः आसुरी प्रकृति का स्वरूप भलीभांति सुनकर उसका त्याग करके दैवीसम्पद् से सम्पन्न हो—यही कहने का तात्पर्य है।]

टिप्पणी-(१) **श्रीधर**—आसुरी सम्पद् का सर्वप्रकार से त्याग करना उचित है। इसलिये आसुरी सम्पद् का विस्तार करने के लिये कहते हैं-**हे पार्थ**-हे अर्जुन! **अस्मिन् लोके द्वौ भूतसर्गौ**—दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि इस लोक में है। यह मुझसे (मेरी वाणी द्वारा) सुनो। आसुरी तथा राक्षसी प्रकृति की

एकता करके यहाँ दो प्रकार की सृष्टि कही गई है। इसलिये नवम अध्याय में 'राक्षसी-मासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' इत्यादि श्लोकों द्वारा वर्णित हुए प्रकृति के तीन भेदों से इसका विरोध नहीं है। अन्य शब्दों का अर्थ स्पष्ट है।

(२) **शंकरानन्द**—'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' (राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेकर स्थित) 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' (दैवी प्रकृति का आश्रय लिये हुए) तथा 'प्रकृत्या नियताः स्वया' (अपनी प्रकृति से नियत) इस प्रकार से गीता में बहुत सी प्रकृतियां कही गई हैं, इनका निर्णय कैसे हो ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि राक्षसी प्रकृति आसुरी प्रकृति के ही अन्तर्गत है। अतः दैवी एवं आसुरी दो प्रकार की ही प्रकृतियाँ हैं। 'प्रकृत्या नियताः स्वया' (अपनी प्रकृति से नियत) इस वाक्य से दैवी और आसुरी प्रकृति ही कही जाती हैं—उनसे अतिरिक्त और कोई प्रकृति नहीं है। इसलिये हेय (त्याज्य) अंश के जानने पर ही उससे विलक्षण उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) अंश को जाना जा सकता है, इसे सूचित करने के लिये दो प्रकार की ही दैवी तथा आसुरी) प्रकृतियों का प्रदर्शन करते हुए आसुरी प्रकृति का ही वर्णन करते हैं—**अस्मिन् लोके भूतसर्गौ**—इस लोक (संसार मण्डल) में भूतों का अर्थात् सर्वप्राणियों का सर्ग (सृष्टि) जो [सृज्यते संसृज्यते] संश्लिष्ट (जुटा हुआ अर्थात् मिलित) रहता है यानी पुष्प में गंध के समान मिला रहता है अर्थात् प्राणियों के चित्त से सम्बन्धित होकर स्थित रहता है, वह सर्ग अर्थात् स्वभाव है। **द्वौ दैवः असुरः च एव**—यह सर्ग (अर्थात् प्रकृति) दैव तथा आसुर दो ही हैं, अधिक नहीं। **दैवः विस्तरशः प्रोक्तः**—उन दोनों सर्गों में से 'अभयसत्त्व-संशुद्धि' इत्यादि से दैवभूतसर्ग विस्तार से कहा जा चुका है—आसुर नहीं कहा गया। **हे पार्थ ! आसुरम् मे शृणु**—हे अर्जुन ! वह असुर सर्ग (प्रकृति) मुमुक्षु को हेयरूप से जानने के योग्य है, उसको मैं कहूँगा, मुझसे सुनो।

(३) **नारायणी टीका**—लोके (इस संसार में), भूतसर्गौ प्राणियों की सृष्टि-विशेष करके मनुष्यों की सृष्टि (क्योंकि मनुष्यों का ही शास्त्रीय कर्म में अधिकार है) दो प्रकार की है (क) दैवसर्ग (दैवीसृष्टि) तथा (ख) आसुर सर्ग (आसुरी सृष्टि)। मनुष्य सृष्टि के नाम से किसी सृष्टि का उल्लेख भगवान् ने यहाँ पृथक्रूप से

नहीं किया है क्योंकि मनुष्य जब शास्त्रीय-संस्कार की प्रबलता के कारण स्वाभाविक राग (विषयासक्ति) तथा द्वेष को अभिभूत कर धर्मपरायण होता है, तब उसे देव (दैवीप्रकृतिसम्पन्न) कहा जाता है। फिर जब उसका स्वाभाविक राग-द्वेषादि प्रबल होकर शास्त्रीय संस्कार को अभिभूत करने के कारण वह अधर्म-परायण होता है तब उसे असुर (आसुरीप्रकृति सम्पन्न) कहते हैं। इस प्रकार आसुरी प्रकृति से सम्पन्न व्यक्ति जब हिंसा या परपीड़न में रत होता है तब उसे राक्षस (राक्षसी प्रकृति-सम्पन्न) कहा जाता है। परन्तु राक्षसी सृष्टि भी आसुरी सृष्टि के अन्तर्भूत है। इसलिये गीता में दो प्रकार की सृष्टि का ही निर्देश किया गया है—यह तो पहले ही कह चुके हैं। धर्मभाव के प्रबल होने पर मनुष्य देवता तथा अधर्मभाव के प्रबल होने पर मनुष्य असुर हो जाता है। अतः धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त जब तीसरी कोई कोटि (पक्ष) नहीं है तो मनुष्य-सर्ग (सृष्टि) या मनुष्य प्रकृति के नाम से किसी पृथक् पक्ष का होना सम्भव नहीं है। श्रुति में कहा है—'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः' (बृ० उ० १।३।१) अर्थात् प्रजापति की दो संतान हैं—देवता व असुर। उनमें देवगण कनिष्ठ (अल्पसंख्यक) हैं एवं असुर ज्येष्ठ (संख्या में अधिक) हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकांश मनुष्य अधर्म-परायण हैं अतः आसुरी प्रकृति से सम्पन्न मनुष्यों की संख्या अधिक है एवं धर्म-परायण मनुष्यों की अर्थात् दैवी प्रकृति सम्पन्न मनुष्यों की संख्या कम है। अब प्रश्न होगा कि श्रुति में यह कहा है कि प्रजापति के तीन जातीय पुत्र (देव, असुर तथा मनुष्य) हैं। जब उनसे शिक्षा-लाभ के लिये उपदेश की प्रार्थना की तब प्रजापति ने तीन बार 'द' शब्द का उच्चारण (द, द, द,) कर देव, असुर एवं मनुष्य को यथाक्रम से दम, दया तथा दान का उपदेश दिया। अतः श्रुति में जब तीन प्रकार की सृष्टि का उल्लेख किया गया है तो यहां भगवान् ने 'दो प्रकार की सृष्टि है' ऐसा क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि (क) 'द' कहकर केवल एक अक्षर के द्वारा ही प्रजापति ने इन्द्रियों के संयम से रहित मनुष्य को दम का उपदेश, दयाशून्य मनुष्य को दया का उपदेश तथा दान रहित मनुष्य को दान का उपदेश दिया। देव, असुर तथा मनुष्य नाम से पृथक्-पृथक् तीन कोटि की सृष्टि का प्रतिपादन करना श्रुति का तात्पर्य नहीं है। किंचित

दैवीसम्पद् सम्पन्न तथा अधिक आसुरी प्रकृति सम्पन्न मनुष्यों के प्रति ही दम, दया तथा दान का विधान किया गया है क्योंकि मनुष्य इन गुणों से युक्त होकर पूर्णरूप से दैवीसम्पद् सम्पन्न हो सकता है। (ख) फिर उक्त श्रुति वाक्य से विधान किये गये दम, दया तथा दान का उपदेश मनुष्य के लिये ही है क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे किसी का शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। अतः जिनका विधान किया है वे मनुष्य के ही कर्तव्य हैं—देव तथा असुर के नही क्योंकि शास्त्रीय विधिवाक्य उनके लिये प्रयोग करने के योग्य नहीं हैं। तथापि देव तथा असुरों का उल्लेख करके जो दम तथा दया की विधि (उपदेश) कही गई है, वह अर्थवाद है (विधि वाक्य की स्तुति या प्रशंसा है) अर्थात् दम दया इतने उत्कृष्ट हैं कि देव तथा असुर को भी प्रजापति ने उनका पालन करने के लिये उपदेश दिया। अतः मनुष्य को अपने कल्याण के लिये इन तीनों (दम, दया तथा दान) का अवश्य पालन करना कर्तव्य है, इस विषय में तो कहना ही क्या है। यथार्थ बात यह है कि शास्त्रविहित ज्ञान तथा कर्म के द्वारा परिशुद्ध हुई इन्द्रियाँ तथा वृत्तियाँ ही देवता हैं तथा शास्त्रनिषिद्ध ज्ञान तथा कर्म में रत हुई इन्द्रियाँ एवं वृत्तियाँ ही असुर हैं। इस देव तथा असुर का संग्राम मनुष्य के हृदय में निरन्तर चल रहा है। अतः मनुष्य की दैवी प्रकृति की जय होने पर वह मनुष्य ही देव हो जाता है, तथा आसुरी प्रकृति की जय होने पर वह मनुष्य ही असुर हो जाता है। अतः दैवी तथा आसुरी सृष्टि से मनुष्य सृष्टि को पृथक् रूप से नहीं बतलाया गया है।

दैवी प्रकृति विस्तार पूर्वक पहले ही कही गई है अर्थात् दूसरे अध्याय में कहे हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में, बारहवें अध्याय में, भक्त के लक्षणों में, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के लक्षणों में चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षणों में और इस अध्याय में अभयं इत्यादि श्लोकों से विस्तारपूर्वक वर्णित हुई है। इसलिये भगवान् अर्जुन को असुर सर्ग का (आसुरी सम्पद् के सम्बन्ध में) विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए सावधानता से सुनने के लिये सतर्क कर रहे हैं क्योंकि जब तक आसुर सर्ग का स्वरूप भलीभांति समझ में नहीं आ जाय तब तक उसका पूर्णतया त्याग करना संभव नहीं है एवं उसका त्याग किये बिना दैवी-सम्पद् से सम्पन्न होकर मोक्ष का अधिकारी होना सम्भव भी नहीं होता।

इस श्लोक से लेकर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त प्राणियों के विशेषणरूप से आसुरी सम्पद् दिखलाई जाती है अर्थात् आसुरी सम्पद् विशिष्ट व्यक्तियों के जो सब विशेषण वर्णित हुए हैं वे ही आसुरी सम्पद् के स्वरूप हैं, ऐसा समझना होगा, क्योंकि इन सब विशेषणों को प्रत्यक्ष कर लेने से ही अर्थात् इनका परिचय साक्षात् भाव से भलीभाँति जान लेने पर ही इनका त्याग करना सम्भव होता है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—आसुराः जनाः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च न विदुः तेषु न शौचम् न अपि च आचारः न सत्यम् विद्यते ।

अनुवाद—आसुरी सम्पद् वाले पुरुष (धर्म में) प्रवृत्ति एवं (अधर्म से) निवृत्ति को नहीं जानते, उनमें पवित्रता नहीं होती, आचार नहीं होता और न उनमें सत्य ही रहता है ।

भाष्यदीपिका—आसुराः जनाः—आसुरी स्वभाववाले मनुष्य ['आसुर' शब्द से राक्षसी प्रवृत्तिवाले मनुष्य को भी समझाया गया है । अतः 'आसुर' शब्द का अर्थ है रज एवं तमोगुण प्रधान मनुष्य] **प्रवृत्तिम् च**—पुरुषार्थ के साधन के अनुकूल जिस कर्तव्यकार्य में प्रवृत्त होना उचित है उसमें प्रवृत्त होने को [प्रवृत्ति-विषयक धर्म को तथा 'च' शब्द से धर्म के प्रतिपादक विधिवाक्य को (मधुसूदन)] **निवृत्तिम् च**—तथा निवृत्ति को अर्थात् प्रवृत्ति-विषयक धर्म से विपरीत जिस अनर्थ कारक (शास्त्र-निषिद्ध कर्म) अधर्म से निवृत्त होना उचित है, उस निवृत्त होने को भी [अर्थात् निवृत्ति विषयक अधर्म को तथा 'च' शब्द से उसके प्रतिपादन करने वाले निषेध-वाक्य को] **न विदुः**—नहीं जानते । [शास्त्र से ही धर्म तथा अधर्म को जाना जाता है । शास्त्र द्वारा विहित कर्म को धर्म तथा निषिद्ध कर्म को अधर्म कहते हैं । शास्त्रीय-विधिनिषेध को सबके द्वारा जानना सम्भव नहीं है तथापि जो श्रद्धावान् हैं वे शिष्ट समाज के आचार, व्यवहार तथा क्रियासमूह को देखकर एवं योग्य सदाचारी व्यक्ति के उपदेश को सेवन कर धर्म तथा अधर्म के स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ होते हैं ।

जो आसुरी प्रकृति से सम्पन्न हैं वे शास्त्रवाक्य, शिष्टाचार (सदाचार) एवं विज्ञ लोगों के उपदेश की उपेक्षा करते हैं। अतः उनकी किस कर्म में प्रवृत्ति होना उचित है एवं किस कर्म से निवृत्ति होना उचित है, उसे वे जानने में समर्थ नहीं होते। वे केवल प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही नहीं जानते हैं, बल्कि **तेषु न शौचम्**—उनमें बाह्य एवं आन्तरिक, यह दोनों प्रकार का शौच भी नहीं है। **न अपि च आचारः**—तथा न सदाचार ही होता है (अर्थात् वे न तो मनु आदि के द्वारा कहे हुए आचार का पालन करते हैं। **न सत्यम् विद्यते**—उनसे न सत्य ही होता है यानी न प्रिय और हितकर यथार्थ भाषण ही होता है अर्थात् आसुरी प्रकृति के मनुष्य अशुद्ध, दुराचारी, कपटी और मिथ्यावादी ही होते हैं। [सत्य और शौच का यद्यपि आचार में ही अन्तर्भाव हो जाता है तो भी ब्राह्मण—परिव्राजक न्याय से अर्थात् परिव्राजक (संन्यासी) मात्र ही ब्राह्मण होगा, यह निश्चय रहने पर भी जिस प्रकार 'ब्राह्मण—परिव्राजक' शब्द व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार शौच, आचार तथा सत्य का पृथकरूप से ग्रहण किया गया है। असुर शौचहीन, आचारहीन, मिथ्यावादी और मायावी (कपटी) होता है—यह तो प्रसिद्ध ही है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—आसुरी प्रवृत्तिवालों का लक्षण 'प्रवृत्तिं च' इत्यादि बारह श्लोकों द्वारा विस्तार से निरूपण करते हैं। **आसुराः जनाः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च**—आसुरी स्वभाववाले मनुष्य धर्म में प्रवृत्ति तथा अधर्म से निवृत्ति को **न विदुः**—नहीं जानते। **न शौचम् तेषु विद्यते**—इसलिये उनमें शुद्धि, सदाचार तथा सत्य भी नहीं होते।

(२) **शंकरानन्द**—उक्त आसुरीसम्पद् का बारह श्लोकों से प्रतिपादन करते हैं। उनमें पहले श्लोक से उनका शील कहते हैं। **प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च आसुराः जनाः न विदुः**—आसुर स्वभाववाले (रज तथा तमोगुण प्रधान) पुरुष शास्त्रविहित कर्तव्य धर्म-कर्म में प्रवृत्ति को एवं शास्त्र से निषिद्ध अनर्थ के हेतु अधर्म से निवृत्ति को नहीं जानते अर्थात् धर्म को और अधर्म को नहीं जानते। 'सत्यं वद, धर्मं चर' (सत्य बोलो, धर्म करो) इत्यादि श्रुतियों में विद्यमान धर्म तथा अधर्म को कैसे नहीं जानते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहा जायगा कि उनका शास्त्र में अप्रमाणित्व-

बुद्धि रहने के कारण शास्त्रवाक्य में विश्वास नहीं है। इसलिये **न शौचम् न अपि च आचारः न सत्यम् तेषु विद्यते**—कर्तव्य तथा अकर्तव्य विषय के ज्ञान से रहित होने के कारण निषिद्धकर्म में रत (तत्पर) रहनेवाले दुर्जनों में बाह्यशौच (जलादि द्वारा शरीर का स्नान आदि) तथा आन्तर का शौच [काम, क्रोध इत्यादि वृत्तियों का रहितत्व (शून्यता)] नहीं होता है, उसी प्रकार आचार (सदाचार) भी नहीं होता है तथा सत्य (यथार्थ भाषण) भी नहीं होता है। [दया भी नहीं होती है, यह 'च'कार से सूचित किया गया है।] कहने का अभिप्राय यह है कि दया, सत्य, शौच तथा आचार से रहित होना ही आसुर (आसुरीसम्पद् से सम्पन्न) मनुष्यों का स्वभाव है।

(३) नारायणी टीका—अब आसुरी प्रकृतिवाले पुरुषों का लक्षण बारह श्लोकों में कहा जा रहा है जिससे आसुरी भाव के प्रति अर्जुन को घृणा उत्पन्न होने के पश्चात् उनका त्याग करने में वह सावधान हो सके। श्रीभगवान् कहते हैं कि आसुर जन को जिन जिन धर्म-कर्म में प्रवृत्त होना उचित है उनको एवं ('च' शब्द से तत्प्रतिपादक शास्त्रोक्त विधिवाक्य जो है उसको) नहीं जानते। फिर जिन सब अधर्म कर्मों से निवृत्त होना उचित है उनको एवं 'च' शब्द से तत्प्रतिपादक शास्त्रोक्त निषेधवाक्य को भी नहीं जानते हैं। अतः इस प्रकार के अज्ञान के कारण उनके बाह्य शरीरादि की शुद्धि तथा आभ्यन्तर चित्तवृत्ति की शुद्धि सम्भव नहीं होती है तथा अज्ञान और अशुद्धि के कारण उनमें सदाचार का तथा सत्यभाषण (प्रिय एवं हितकर यथार्थभाषण) का होना भी सम्भव नहीं होता है।

आसुरी सम्पद्विशिष्ट पुरुषों की धर्म-कर्म में अप्रवृत्ति एवं अधर्म में प्रवृत्ति तथा शौच, आचार, सत्य आदि के अभाव का कारण यही है कि वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानते हैं। इसे ही अब स्पष्ट कर रहे हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

अन्वय—ते (आसुराः) जगत् असत्यम् अप्रतिष्ठम् अनीश्वरम् अपरस्पर-सम्भूतम् कामहैतुकम् च (इतः) अन्यत् किम् (इति) आहुः ।

अनुवाद—वे आसुरी सम्पद्‌वाले संसार असत् (मिथ्या व्यवहारपूर्ण) है, अतः इसकी धर्माधर्मरूप कोई प्रतिष्ठा (सुख-दुःखादि की विषमता के हेतुरूप कोई व्यवस्था) नहीं है एवं इस जगत् में जो कुछ सृष्ट पदार्थ देखे जाते हैं वे एक-दूसरे के संयोग से (काम से प्रेरित हुए-स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से) उत्पन्न हुए हैं, ऐसा बताते हैं। अतः उनके मत में काम ही प्राणियों की सृष्टि का कारण है—इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं।

भाष्यदीपिका—**ते** वे आसुरीस्वभाववाले मनुष्य **जगत्**—जगत को **असत्यम्**—जैसे हम असत्य से अर्थात मिथ्या से (झूठ कपटता से) भरे हुए हैं वैसे ही यह समस्त जगत् भी झूठा है [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि वेद एवं वेदमूलक पुराणादि शास्त्र नित्य सत्यवस्तु परमात्मा के तत्त्व को प्रकाश करते हैं। इसलिये-वेद-पुराणादि सत्य हैं। परन्तु आसुरी प्रकृतिवाले वेद-पुराणादि की सत्यता (प्रामाणिकता) नहीं मानते हैं अर्थात् प्रमाणविशिष्ट वेद-पुराणादि सत्यवस्तु नहीं है, यही वे कहते हैं।] अतः यह जगत् **अप्रतिष्ठम्**—प्रतिष्ठा से रहित है अर्थात् धर्म-अधर्म आदि कोई प्रतिष्ठा यानी सुख-दुःख इत्यादि के वैषम्य हेतुभूत धर्म अधर्मरूप आधार नहीं है, ऐसा ही वे लोग कहते हैं, अतः उनके मत में यह जगत् **अनीश्वरम् आहुः**—पुण्य-पाप कर्मों का फल देने वाला नियन्ता ईश्वर नहीं है, इसलिये यह जगत् ईश्वर के बिना ही चल रहा है, ऐसा कहते हैं [पापरूप प्रबल प्रतिबन्ध होने के कारण (अर्थात् उनके बहुजन्म-संचित पाप रहने के कारण) वे वेद की प्रामाणिकता नहीं मानते हैं। इसीसे उसके (वेद के) बताये हुए धर्म—अधर्म तथा ईश्वर को स्वीकार न करके यथेष्ट आचरण करने से वे पुरुषार्थ से पतित ही होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]

'यदि वे एकमात्र शास्त्र से ही जिनका ज्ञान होता है उन धर्म और अधर्म के सहित प्रकृति के अधिष्ठाता ईश्वर से जगत् रहित है ऐसा मानते हैं तो कोई कारण न रहने से उसकी उत्पत्ति ही कैसे सिद्ध होगी' ऐसी आशंका करके कहते हैं—वे जगत् को **अपरस्परसम्भूतम्**—काम से प्रेरित हुए स्त्री-पुरुष के पारस्परिक (आपसी) संयोग से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। अतः इस जगत् का **कामहैतुकम् किम् अन्यत्**—कारण काम ही है, दूसरा कारण और क्या हो सकता है? अर्थात्

इसका धर्म—अधर्मादि कोई दूसरा अदृष्ट कारण नहीं है—केवल काम ही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है। इस प्रकार यह लोकायतिकों (शरीर को ही आत्मा माननेवाले सम्प्रदाय-विशेष अर्थात् चार्वाक सम्प्रदाय) की दृष्टि (मत) है यानी चार्वाक मत आसुरी-प्रकृतिवालों की युक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित है। [आसुरी-सम्पद्वाले कहते हैं कि यह जगत् काम के अतिरिक्त अन्य कारण से रहित है। यदि कहो कि धर्मादि भी तो उसके कारण हैं, तो वे कहते हैं—नहीं और कोई अदृष्ट कारण क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता। अदृष्ट का अङ्गीकार करने पर भी उसका पर्यवसान तो कहीं स्वभाव में ही होता है, अतः यह जगत् की विचित्रता स्वाभाविक ही होनी चाहिए, क्योंकि दृष्ट कारण के रहते हुए अदृष्ट कारण की कल्पना के लिये अवकाश नहीं है। अतः काम ही प्राणियों का कारण है, कोई ईश्वरादि नहीं।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यदि प्रश्न हो कि वेदोक्त धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म में निवृत्ति को वे कैसे नहीं जानते हैं तथा धर्म एवं अधर्म को स्वीकार किये विना जगत् के सुख-दुःखादि की व्यवस्था कैसे होगी एवं शौच, आचार आदि विषयों के सम्बन्ध में ईश्वर की वेदवाक्यरूप जो आज्ञा विद्यमान है उसका वे कैसे उल्लंघन कर सकते हैं और ईश्वर को निमित्तकारणरूप से स्वीकार न करने पर किससे जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होगी ? तो इस पर कहते हैं कि **जगत् असत्यम् ते आहुः**—जगत् असत्य है क्योंकि इसके सम्बन्ध में वेद, पुराणादि का जो प्रमाण माना जाता है वह सत्य नहीं है अर्थात् वे वेदादि की प्रामाणिकता नहीं मानते। इसलिये उनका कथन है कि 'त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः' (स० द० सं० चार्वाक० २५) अर्थात् भाँड़, धूर्त और निशाचर—ये तीन वेद के कर्ता हैं इत्यादि। अतः **अप्रतिष्ठम्**—इस जगत् की धर्म अधर्मरूप प्रतिष्ठा (व्यवस्था का हेतु) नहीं है अर्थात् वे जगत् की विचित्रता को स्वाभाविक बताते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि **अनीश्वरम्**—जगत् का कर्ता तथा व्यवस्थापक ईश्वर नहीं है। अब प्रश्न होगा कि वे जगत् की उत्पत्ति किससे बताते हैं ? इस पर कहते हैं कि **अपरस्परसम्भूतम्**—अपर और पर अर्थात् अपरस्पर से (एक दूसरे के संयोग से अर्थात् स्त्री-पुरुष के मिथुन से—संसर्ग से) जगत् उत्पन्न हुआ है। इसके अतिरिक्त **किम् अन्यत्**—इसका अन्य कारण क्या हो सकता

है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का अन्य कुछ भी कारण नहीं है । अपितु **कामहैतुकम्**—इस उत्पत्ति का हेतु केवल काम ही है अर्थात् स्त्री-पुरुष इन दोनों का काम ही प्रवाहरूप से जगत् का हेतु है ।

(२) **शंकरानन्द**—स्वभाव के अनुसार ही सब कुछ हो रहा है, इस प्रकार आसुरीप्रकृतिवालों का निश्चय है **ते जगत् असत्यम् आहुः**—दया, तप, सत्य तथा शौच से रहित वे आसुरी जन जैसे स्वयं असत्य हैं वैसे ही सब जगत् को असत्य कहते हैं अर्थात् वेद, वेदोक्त-धर्म और उनके फल सभी असत्य ही हैं—ऐसा वे कहते हैं। यदि कहो कि सुख-दुःख आदि भेद लक्षण वाली जगत् की विचित्रता दिखाई देती है। इसलिये धर्म एवं अधर्म के मूलभूत (निर्णय करनेवाले वेद) तथा उन धर्म-अधर्मरूप कर्मों से प्राप्त लोकसमूह सब सत्य हैं ऐसा जाना जा सकता है तो इसके उत्तर में कहते हैं **अप्रतिष्ठम्**—जिसमें प्रतिष्ठित (स्थित) होता है वह प्रतिष्ठा है अर्थात् धर्म एवं अधर्म से सुख-दुःख आदि प्रतिष्ठित होते हैं, इसलिये सुख-दुःख आदि विचित्रता के हेतुभूत धर्म तथा अधर्म को प्रतिष्ठा कहा जाता है। जिसकी प्रतिष्ठा नहीं है, वह अप्रतिष्ठ है। आसुरी प्रकृतिसम्पन्न लोग कहते हैं कि धर्म तथा अधर्म के कारण से जगत् की विचित्रता नहीं होती है किन्तु वस्तु के स्वभाव से ही सुख-दुःख आदि की विचित्रता होती है, इसलिये वे जगत् को अप्रतिष्ठित कहते हैं तथा **अनीश्वरम्**—जगत् की उत्पत्ति का कारण ईश्वर नहीं है इसलिये जगत् को अनीश्वर भी कहते हैं। यदि कोई कहे कि ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति का कारण न मानने पर प्रजा की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि **अपरस्परसम्भूतम्**—अपर तथा पर का मैथुन (संयोग) अपरस्पर है, उससे जगत् सम्भूत (उत्पन्न) है अर्थात् स्त्री तथा पुरुष के संयोग से सब जगत् उत्पन्न हुआ है, ऐसा उनका कहना है। और यदि कहो कि दोनों का प्रेरक अर्थात् स्त्री तथा पुरुष के मैथुन-कार्य में प्रेरणा देने वाला निमित्त कारण ईश्वर को मानना चाहिए। इस पर करते हैं-**कामहैतुकम्**—सन्तान की सृष्टि में काम ही हेतु जिसका है वह कामहैतुक है। कामहेतुक ही (काम के बिना दूसरा कोई हेतु नहीं है, यह निश्चय करके समझाने के लिये कहते हैं कि काम जिसका हेतु है वह जगत् ही) कामहैतुक है। अतः प्रजासृष्टि में दोनों के प्रेरणा में अर्थात् स्त्री एवं पुरुष के

मैथुन की प्रेरणा में काम ही कारण है **किम् अन्यत्**—उससे अन्य कारण कौन है, ऐसा वे कहते हैं [स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है, यह सबके प्रत्यक्ष सिद्ध है] अतः दृष्ट का त्यागकर अदृष्ट (जो दिखाई नहीं देते हैं ऐसे) धर्मादि की अथवा ईश्वर की कल्पना युक्त नहीं है, ऐसा उनके कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—आसुरीप्रकृति-सम्पन्न जनसमूह इस जगत् को असत्य अर्थात् वेद, पुराणादि ने इसकी सृष्टि के सम्बन्ध में जो तत्त्व निश्चित किया है उस तत्त्व को झूठा समझता है एवं इस विषय के प्रमाणस्वरूप वेदादि को असत्य कहते हैं। दैवी सम्पद् से सम्पन्न ज्ञानी भी **नामरूपात्मक**—जगत् को मिथ्या ही कहते हैं एवं वेद पुराणादि का तात्पर्य भी इस मिथ्यात्व का प्रतिपादन करता ही है, क्योंकि इस नामरूपात्मक जगत् की वास्तविक कोई सत्ता नहीं रहने पर भी यह स्वप्नदृश्यवत् अथवा रज्जु में सर्पभ्रान्तिवत् प्रतीत हो रहा है। अतः उनकी (दैवी-प्रकृति से सम्पन्न ज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् नामरूप से भ्रान्तिमात्र है किन्तु कोई भ्रान्ति किसी सत्यवस्तु को अधिष्ठान (अवलम्बन) न करके भासित हो नहीं सकती। अतः वे जगत् के तत्त्व के सम्बन्ध में प्रमाणमूलक वेद आदि को सत्य मानते हैं एवं इस नामरूपात्मक जगत् की प्रतिष्ठा (अधिष्ठान) जो सर्वात्मा ब्रह्म है उसे नित्य एवं सत्य मानते हैं। किन्तु आसुरी प्रकृति वाले अज्ञानी मनुष्य जगत् को अप्रतिष्ठित कहते हैं अर्थात् जड़ जगत् में जो कुछ हो रहा है वह स्वाभाविक रूप से ही हो रहा है, उसके लिये किसी चेतन अधिष्ठान सत्ता (प्रतिष्ठा) को मानना आवश्यक नहीं है—यही उनका अभिमत है। अथवा संसार में सुख-दुःख आदि के भेद के कारण जो विचित्रता दिखाई देती है उसके लिये धर्माधर्मरूप प्रतिष्ठा (अर्थात् उन भेदों की व्यवस्था का हेतु) नहीं है—ऐसा वे कहते हैं। जब धर्माधर्मरूप प्रतिष्ठा (व्यवस्थाका हेतु) नहीं है तब कर्मों का फलदाता अथवा नियन्ता ईश्वर भी नहीं है। अतः उनके मत में जगत् 'अप्रतिष्ठित होने के कारण **अनीश्वर**-भी है। और यदि कोई कहे कि जड़ देहादि किसी चैतन्यस्वरूप निमित्त कारण की प्रेरणा के बिना कैसे कर्म कर सकते हैं एवं एक चेतनसत्ता के बिना शुभाशुभ कर्म भी कैसे फल प्रसव कर सकते हैं अर्थात् जगत् के सृष्टि-व्यापार में पंचभूत इत्यादि जड़ उपादान कारण रहते हुए भी उसके

परस्पर संयोग वियोग आदि में प्रेरणा देनेवाली एक चेतनसत्ता अवश्य ही रहनी चाहिए। इसके उत्तर में वे आसुरजन कहते हैं कि जगत् के सृष्टि-व्यापार में तथा कर्मों की प्रवृत्ति में एवं कर्मफल के परिणाम में इसप्रकार किसी चेतन निमित्त कारण का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि जगत् अपरस्परसम्भूत है [अपरः + परः=- अपरस्परः अर्थात् एक दूसरे के पारस्परिक संयोग से यानी स्त्री पुरुष के परस्पर मैथुन से सम्भूत होता है क्योंकि यह सर्वत्र ही प्रत्यक्ष है कि जगत् के समस्त प्राणी स्त्री-पुरुष के ही संयोग से होते हैं, अन्य कोई कारण नहीं है।]

अब प्रश्न होगा कि पुरुष तथा स्त्री की देह, बुद्धि इत्यादि तो जड़ हैं अतः किसी चेतन की प्रेरणा के बिना इन दोनों का संयोग (मैथुन) किस प्रकार हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि यह जगत् **कामहैतुक** हैं अर्थात् काम से अतिरिक्त जगत् सृष्टि-व्यापार में अन्य कोई कारण नहीं है यानी स्त्री-पुरुष दोनों का काम ही प्रवाह-रूप से जगत्व्यापार में एकमात्र हेतु है। अतः जड़-देहादि का यही स्वाभाविक नियम होने के कारण दृष्ट हेतु को छोड़कर अदृष्ट ईश्वर या अन्य किसी चेतन निमित्त कारण को स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है। इस प्रकार आसुरीमत का अवलम्बन करके ही चार्वाक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है। यह मत वेद, पुराण स्मृति, इतिहास इत्यादि सर्वशास्त्रों से विरुद्ध है। इसलिये ही इसप्रकार के मत के अनुसरण करनेवाले आसुरीसम्पत् विशिष्ट व्यक्तियों का संसार से अपने को उद्धार करने का कोई भी उपाय नहीं है—इसे सूचित करना ही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

शास्त्रीय दृष्टि के समान इन लोगों की दृष्टि भी (अर्थात् पूर्वश्लोक में उन लोगों का अभिमत जिस प्रकार वर्णित हुआ है वह भी) इष्ट ही है, ऐसी आशंका करके कहते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वय—उग्रकर्माणः नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः अहिताः (जनाः) एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य जगतः क्षयाय प्रभवन्ति।

अनुवाद—इसप्रकार दृष्टि का (बुद्धि का) आश्रय लेकर वे परलोक के साधनों

से रहित, अल्पबुद्धि, उग्रकर्म करनेवाले एवं जगत् के अहितकारी (अर्थात् धर्म के शत्रु) जगत् के नाश के लिये उत्पन्न होते हैं।

भाष्यदीपिका—**उग्रकर्माणः**—क्रूर कर्म करने वाले (हिंसापरायण) **नष्टात्मानः**—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है अर्थात् जो परलोक के साधनों से भ्रष्ट हो गये हैं (मृत्यु के पश्चात् परलोक में शुभ गति को प्राप्त करने के लिये जिन कर्म या साधनों की आवश्यकता है उनसे रहित) तथा **अल्पबुद्धयः**—जिनकी बुद्धि केवल अल्पको (तुच्छ दृष्ट भोगों को ही) विषय करनेवाली है इसप्रकार अल्पबुद्धिवाले तथा **अहिताः**—संसार के शत्रु (वे आसुरी तथा राक्षसी सम्पद् से सम्पन्न हुए लोग) **एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य**—इस दृष्टि का (अर्थात् पहले कही हुई इस लोकायतिकों की दृष्टि का) अवलम्बन (आश्रय) लेकर **जगतः क्षयाय**—जगत् के क्षय के लिये अर्थात् जगत् के प्राणीसमूह के नाश के लिये तथा प्राणीसमूह की स्थिति की व्यवस्था करनेवाले जो वेद वेदोक्त धर्म हैं उसका भी नाश करने के लिये **प्रभवन्ति**—उत्पन्न होते हैं।

टिप्पणी (१)—श्रीधर—इन लोकायतिकों (नास्तिकों) की दृष्टि (सिद्धान्त) का आश्रय लेकर **नष्टात्मानः**—नष्ट हुए मनवाले (अर्थात् मलिन चित्त से युक्त हुए) **अल्पबुद्धयः**—अल्प (तुच्छ) अर्थात् केवल प्रत्यक्षरूप से दृष्टमात्र प्रयोजन के साधनों में यानी तुच्छ विषयों में जिनकी बुद्धि रत रहती है वे अल्पबुद्धि हैं अतः **उग्रकर्माणः**—उग्र यानी हिंसायुक्त जिनके कर्म हैं **अहिताः**—वे (संसार के) अहितकारी शत्रु होकर **जगतः क्षयाय प्रभवन्ति**—जगत् का क्षय करने के लिये प्रकट (उत्पन्न) होते हैं।

२ शंकरानन्द—उक्त प्रकार से वे असुर एकमात्र प्रत्यक्ष को आश्रय करके जो निश्चय करते हैं उस निश्चय का फल क्या होता है उसे कहते हैं—**एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य**—पूर्वोक्त इस लोकायतिक दृष्टि का अलम्बन करके **नष्टात्मानः**—काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि लक्षणों वाले रजोगुण और तमोगुण दोष से नष्ट (तिरोहित) हो गई है आतमा अर्थात् विवेकबुद्धि जिनकी वे नष्ट आतमा एवं इसलिये **अल्पबुद्धयः**—अल्प यानी तुच्छ माला, चन्दन आदि विषय-भोग में बुद्धि जिनकी है वे अल्पबुद्धि वाले अथवा अल्प में (मल मांस, हड्डीवाले देह में) 'मैं' ऐसी बुद्धि जिनकी है वे अल्पबुद्धिवाले अर्थात् देहातममात्रदर्शी एवं इसलिये **उग्रकर्माणः**—उग्र (क्रूर)

कर्म (केवल देह के पोषण को ही प्रयोजन मानकर परहिंसा प्रधान शास्त्रविरुद्ध कर्म) में रत रहते हैं। इसलिये वे आसुर हैं तथा आसुर होने के कारण वे **अहिताः**- साधु पुरुषों के शत्रु होकर **जगतः क्षयाय प्रभवन्ति**-स्वयं जगत् के नाश के लिये अर्थात् जगत् की स्थिति के हेतुभूत वेद एवं वेदोक्त धर्म के नाश के लिये प्रभु (समर्थ) होते हैं-जगत् के रक्षण के लिये नहीं।

(३) **नारायणी टीका**—जो कहते हैं कि इस जगत् की धर्माधर्मरूप प्रतिष्ठा नहीं है एवं इस जगत् के शुभाशुभ कर्मों के फलदातारूप से कोई नियन्ता (ईश्वर) नहीं है तथा जो कुछ हो रहा है, उसका हेतु एकमात्र काम ही है अर्थात् कामरूप स्त्री-पुरुष के संयोग से ही सृष्टि होती है एवं जागतिक जो कुछ परिवर्तन हो रहा है वह भी स्वभाव से ही होता है—इस प्रकार कहनेवालों की गति कैसी होती है? इस पर कहते हैं-इस प्रकार की दृष्टि (दर्शन) का अवलम्बन करके उक्त चार्वाक सम्प्रदाय के लोग स्वभाव या प्रकृति से अपनी चैतन्यस्वरूप आत्मा को पृथक् नहीं मानने के कारण वे प्रकृति या अपने-अपने स्वभाव के ही वश में रहते हैं। अतः प्रकृति से उत्पन्न हुए रज, तम गुणों के दोष से अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से उनकी आत्मा (अन्तःकरण) अर्थात् विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है एवं उत्तरोत्तर देह, इन्द्रियादि में ही आत्मबुद्धि दृढ़ से दृढ़तर होती रहती है। इसलिये भावी परलोक की शुभगति से बराबर के लिये नष्ट (विभ्रष्ट अर्थात् पतित) हो जाते हैं। इसी कारण से इनको परलोक का भय अथवा ईश्वर के शासन का भय नहीं रहने के कारण एवं पशु आदि के समान केवल स्वभाव तथा संस्कार से ही परिचालित होने के कारण अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिये दूसरे के प्रति उग्र (क्रूर-निष्ठुर) कर्म (व्यवहार करने में ही वे रत होते हैं। इस प्रकार उग्रकर्मा होने के कारण स्वभावतः ही सर्वभूतों के अहित करने में लिप्त रहते हैं तथा संसार के शत्रु होकर जगत् का (सब प्राणियों का) तथा जगत् की स्थिति के लिये जिन शुभकर्मों का प्रयोजन है उन शुभकर्मों के प्रतिपादक वेद एवं वेदोक्त धर्म का भी नाश करने के लिये प्रभावशाली होते हैं अर्थात् समस्त प्रयत्नों तथा सामर्थ्य का प्रयोग करते हैं अथवा उक्त प्रकार से दोषयुक्त होकर मृत्यु के पश्चात् ऐसी योनि में उनकी प्रभव (उत्पत्ति) होती है जिससे जगत् का नाश ही सम्भव हो—रक्षण नहीं। अतः

जो लोग अपना श्रेय (कल्याण) चाहते हैं उनको इस प्रकार आसुरी दृष्टि का सर्वथा परित्याग कर वेदविहित मार्ग का अनुसरण करके अधोगति से अपनी रक्षा करनी चाहिए, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है।

जगत् के नाश के लिये इन लोगों की प्रवृत्ति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

अन्वय — दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा दम्भमान-मदान्विताः अशुचिव्रताः (सन्तः) प्रवर्तन्ते ।

अनुवाद—दम्भ, मान तथा मद से युक्त एवं अपवित्र व्रतवाले वे लोग जिसका पूरा होना कठिन है ऐसे काम (इच्छा) का आश्रय लेकर मोहवश (अविवेकवश) असत् (अशुभ अर्थात् जगत् के लिये अकल्याणकर) व्रत (निश्चय या संकल्प) को लेकर (अवैदिक कर्म में) प्रवृत्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—**दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य**—जिसका पूरा होना सम्भव नहीं है ऐसे काम (इच्छाविशेष) का (अर्थात् उस-उस इष्ट विषय की अभिलाषा करके) आश्रय (अवलम्बन) कर **मोहात्**—शास्त्र के अनुसार शुभाशुभ कर्मों का विचार न कर **असद्ग्राहान्**—असद्ग्राहों के (अशुभ निश्चयों को) [अर्थात् 'इस मन्त्र से इस देवता की आराधना करके सुन्दर स्त्रियों का आकर्षण करूँगा तथा इस मंत्र से इस देवता की आराधना कर बड़े-बड़े खजाने प्राप्त कर लूँगा', इत्यादि दुराग्रहरूप निश्चयों को (मधुसूदन)] अर्थात् मारण, उच्चाटन-वशीकरण आदिरूप असत् (अशुभ) निश्चयों को **गृहीत्वा**—ग्रहण करके (स्वीकार करके) **दम्भमानमदान्विताः**—दम्भ, मान तथा मद (गर्व) से संयुक्त होकर [अधार्मिक होने पर भी अपनी धार्मिकता प्रकट करना **दम्भ**—है; पूजनीय न होने पर भी अपनी पूजनीयता प्रकट करना **मान**—है तथा उत्कर्ष रहित होने पर भी अपने में उत्कर्षविशेष का आरोप करके अपने को 'महान्' रूप से प्रमाणित करने की प्रवृत्ति को **मद**—अर्थात् गर्व कहा जाता है (मधुसूदन) **अशुचिव्रताः**—अशुचि (अशुभ) व्रत (सिद्धान्त) वाले

होकर [अपवित्र श्मशान आदि स्थानों में वास, उच्छिष्ट खाद्य एवं मद्य-मांसादि का भक्षण एवं वामाचारियों के तामसिक शास्त्र में उपदिष्ट परस्त्री भोगादि—इस प्रकार अशुचिव्रत (अपवित्र संकल्प) जिनके हैं वे अशुचिव्रत कहे जाते हैं ।] वे **प्रवर्तन्ते**—प्रवृत्त होते हैं [अर्थात् इस संसार में शास्त्रनिषिद्ध दृष्ट फल के लिये (विषय-भोगों के लिये) अवैदिक (वेद बहिर्भूत) भूत-प्रेत, पिशाच इत्यादि की मद्य-मांसादि के द्वारा पूजा करने में प्रवृत्त रहते हुए समाज में कुमार्ग के प्रचलन द्वारा स्वयं अपने ही नहीं परन्तु जगत् के सभी प्राणियों के अहितकर कर्म में लिप्त रहते हैं—'प्रवर्तन्ते' शब्द का यही अभिप्राय है ।] ऐसे लोग 'अपवित्र नरक में गिरते हैं, इस प्रकार इसका आगे के (सोलहवें) श्लोक के साथ अन्वय है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—और भी **दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य**—जिसे पूरा न किया जा सके ऐसे काम का अवलम्बनकर **दम्भमानमदान्विताः**—दम्भ, मान तथा मद से युक्त हुए वे लोग **प्रवर्तन्ते**—क्षुद्र देवताओं की आराधनादि में प्रवृत्त होते हैं **असद् ग्राहान् मोहात् गृहीत्वा**—असद् ग्राहों का (सिद्धान्तों का) आश्रय लेकर अर्थात् अमुक मंत्र द्वारा अमुक देवता की आराधना करके बड़ी-बड़ी निधियों को प्राप्त करूँगा, इस प्रकार के दुराग्रह को मोहमात्र (अविवेक) से स्वीकार करके (संसार में) प्रवृत्त होते हैं तथा वे **अशुचिव्रताः**—अशुद्धव्रतवाले होते हैं अर्थात् अपवित्र मद्य-मांसादि के भक्षण को विषय करके ही उनके व्रत (सिद्धान्त) होते हैं ।

(२) **शंकरानन्द**—जगत् के नाश के लिये समर्थ कैसे होते हैं ? इसपर कहते हैं—**दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य**—काम (अर्थात् विषय-भोग की स्पृहा) को कोटि-कोटि वर्षों तक भोग मिलने पर भी वह पूर्णरूप से नहीं होता है, इसलिये काम को दुष्पूर कहा जाता है । इसप्रकार काम का आश्रय करके (धर्म का आश्रय करके नहीं) **दम्भमानमदान्विताः**—दम्भ, मान तथा मद (गर्व) से अन्वित (युक्त) होकर [दम्भ बाहर धर्मनिष्ठता का चिन्ह, मान—अपने में उत्कृष्टता का अभिनिवेष, मद—विद्या, ऐश्वर्य आदि के द्वारा किये गये विवेक के नाश का हेतु चित्त का विकार—इनसे स्वयं युक्त होकर] **मोहात्**—असुरजन मोह से अर्थात् असत् में (मिथ्या प्रपंच में) सद्बुद्धि करके अर्थात् अविवेक से **असद्ग्राहान्**—असत् ग्राहों का [असद् का

अर्थात् अनर्थ को ही जो ग्रहण कराते हैं वे असद् ग्राह हैं अर्थात् वेद-शास्त्र के विरुद्ध निश्चयों का (सिद्धान्तों का) ग्रहण करना ही असद्ग्राह है ।] **गृहीत्वा**—उनका ग्रहण करके **अशुचिव्रताः**—अशुचि के (अमंगलकारी नरक आदि अनर्थ के) कारणरूप व्रत (नियम) जिनके हैं वे अशुचिव्रत हैं। ऐसे होकर **जगतः क्षयाय प्रवर्तन्ते**—जगत् के नाश के लिये प्रवृत्त होते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—असुर जन दम्भ, मान तथा मद (गर्व) से सदा ही युक्त रहते हैं अर्थात् अधार्मिक होते हुए भी अपना धार्मिकत्व दूसरे के सामने प्रचार करते हुए दम्भ प्रकट करते हैं एवं सर्व दोषों की खान होते हुए भी अर्थात् पूजा के अयोग्य तथा निकृष्ट होते हुए भी 'मैं सबके पूज्य हूँ' इसप्रकार का मान (अभिमान) रखते हैं। तथा विद्या, ऐश्वर्य आदि से विहीन (रहित) होने पर भी 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं धनवान् हूँ', इसप्रकार का वृथा गर्व प्रकाश करके अपने उत्कृष्टत्वका ख्यापन (प्रदर्शन) करते हैं। इन लोगों में विषय-भोग के लिये काम (वासना) रहता है, किन्तु विषयवासना कभी कोटि-कोटि वर्षों तक भोग करने पर भी पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये उन लोगों का काम दुष्कर है अर्थात् पूर्ण होने के अयोग्य है। इसप्रकार असुरजन सदा ही मोह से युक्त होते हैं (अविवेकी होते हैं) अर्थात् एकमात्र मिथ्या भोग्यपदार्थों में ही उनकी सत्यत्वबुद्धि रहती है और जो इन सब के अधिष्ठान-सत्तारूप से नित्य, सत्य चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसको असत्य मानकर अस्वीकार करते हैं। इसकारण से संसार के भोग्य पदार्थों में नितान्त आसक्त होकर अत्यन्त मलिन-बुद्धि के द्वारा ऐसा निश्चय कर लेते हैं जिसे कि असद्ग्राह कहा जाता है क्योंकि वह निश्चय (सिद्धान्त) असद् यानी सर्वप्रकार से अनर्थरूप देहादि तथा निम्न से निम्नतर योनि का ही ग्रहण कराते हैं। इसलिये वेद-शास्त्र के विरुद्ध अशुभ निश्चयादि को अर्थात् मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि के मन्त्राभ्यास के द्वारा दूसरे की हिंसा करना, परधन को प्राप्त करना तथा परस्त्री से भोग करना ही उनके जीवन की लक्ष्यवस्तु होने के कारण वे असत् (अशुभ) वासनाएं ग्राह (मगर) के समान ऐसे वशीभूत कर लेती हैं कि उनसे मुक्त होना असम्भव हो जाता है। इसलिये वे अशुचिव्रत हो जाते हैं अर्थात् उक्त मारण, उच्चाटन आदि की सिद्धि के लिये तन्त्रादि मतों के अनुसार उच्छिष्ट भोजन,

श्मशान में वास, मद्यमांसादि का सेवनरूप व्रत (अर्थात् नियम) पालन करते हैं जिसके फलस्वरूप उनको फिर अशुचि स्थान ही (अमंगलकर एवं बहु अनर्थ के हेतु नरकादि स्थान ही) प्राप्त होते हैं। अतः उसप्रकार से आसुरी दोषों से युक्त होकर वे जगत् के क्षय यानी नाश के लिये ही प्रवृत्त होते हैं अर्थात् वे जो कुछ करते हैं वे सब जगत् के प्राणियों के सुख के नाश तथा दुःख की वृद्धि के लिये ही होते हैं।

उन लोगों के विशेषण पुनः बताते हैं—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—प्रलयान्ताम् अपरिमेयाम् चिन्ताम् च उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः ।

अनुवाद—वे मरणपर्यन्त रखने वाली अपरिमित चिन्ता का आश्रय लिये रहते हैं एवं दृष्ट कामोपभोग को ही अर्थात् दृष्ट शब्दादि विषयों के भोग को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं तथा यह दृष्ट सुख ही सब कुछ है ऐसा निश्चय रखने वाले होते हैं।

भाष्यदीपिका—प्रलयान्ताम्—प्रलय (मरण ही जिसका अन्तः (शेष) है उसे प्रलयान्त कहा जाता है अर्थात् मरणपर्यन्त रहने वाली **अपरिमेयाम् चिन्ताम् च उपाश्रिताः**—जिस चिन्ता की इयत्ता (परिमाण या सीमा) नहीं की जा सकती है, ऐसी अपरिमेय (अपार) चिन्ता के आश्रित हुए अर्थात् सर्वदा चिन्ताग्रस्त हुए [पूर्व श्लोक में उक्त अपवित्रव्रत वाले पुरुष केवल अशुभवासनाओं की पूर्ति के लिये ही प्रवृत्त नहीं होते बल्कि उन वासनाओं के कारण ऐसी अपार चिन्ता में भी पड़े रहते हैं यही सूचित करने के लिये 'च' शब्द समुच्चय के लिये है (मधुसूदन)] किन्तु इस प्रकार सर्वदा अपार (अनन्त) चिन्ता से युक्त होने पर भी वे कभी पारलौकिक कल्याण के साधन की चिन्ता से युक्त नहीं होते हैं क्योंकि वे **कामोपभोगपरमाः**—जिनकी कामना की जाय वे शब्दादि विषय काम हैं। वे शब्दादि विषय रूप कामों के उपभोग ही उनके परमपुरुषार्थ हैं, किन्तु धर्म-कर्म प्रभृति

उनके परम पुरुषार्थ (जीवन की परम लक्ष्य वस्तु) नहीं है। इसलिये वे कामोपभोग-परम ही होते हैं अर्थात् उन उपभोगों में तत्पर रहते हैं। वे पारलौकिक उत्तम सुख की इच्छा क्यों नहीं करते हैं? इस पर कहते हैं। **एतावत् इति निश्चिताः**—यही (अर्थात् विषय का उपभोग करना ही परम पुरुषकार है यही) निश्चित किये हुए हैं [अर्थात् ऐसे निश्चय वाले हैं कि यह दृष्ट-सुख ही यथार्थ सुख है, शरीर का वियोग होने पर कोई भोग्य सुख नहीं है क्योंकि इस शरीर से अतिरिक्त कोई और भोक्ता नहीं है। ऐसा ही चार्वाकों के आचार्य बृहस्पति जी का सूत्र भी है—'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' (चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष है) तथा 'काम एवैकः पुरुषार्थः' (काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अपरिमेयाम् च उपाश्रिताः—तथा वे (असुरजन) ऐसी अपरिमेय अर्थात् परिमाण में (माप करने में) न आनेवाली चिन्ता का आश्रय (अवलम्बन) लिये रहते हैं जिनका कि **प्रलयान्ताम्**—अन्त प्रलय (मरण) ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वे मृत्यु तक सदा ही चिन्तापरायण (चिन्तायुक्त यानी चिन्तित) रहते हैं। तथा **कामोपभोगपरमाः**—जिनका परम लक्ष्य केवल भोगों का उपभोग करना ही है वे **एतावत् इति निश्चिताः**—इतना ही परम पुरुषार्थ है—अन्य कुछ नहीं ऐसा निश्चय कर लेने वाले लोग 'अन्याय से धन संग्रह की इच्छा करते हैं' इसप्रकार से आगे के (१६ के १२) श्लोक में आये हुए वाक्य से इनका अन्वय है। बृहस्पति जी का सूत्र भी इसी प्रकार है—'काम एवैकः पुरुषार्थः' (एकमात्र भोग ही पुरुषार्थ है) तथा चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' (चेतनता युक्त शरीर ही पुरुष है)।

(२) शंकरानन्द—अपरिमेयाम् प्रलयान्ताम् चिन्ताम् च उपाश्रिताः—जिसकी परिमाप (नाप) नहीं की जा सकती है ऐसी इयत्ता से शून्य [प्रलय (अन्तिम) श्वास है अन्त (अवधि) जिसकी वह प्रलयान्त है अर्थात् मरणपर्यन्त चिन्ता का-भोग्य वस्तु का शौष्ठव और अशौष्ठव तथा सिद्धि एवं असिद्धि की विचाररूप चिन्ता का-अवलम्बन कर] **कामोपभोगपरमाः**—काम शब्द का अर्थ अभिलषित वस्तु (भोग्य पदार्थ) है, उनका उपभोग ही परम [यानी निरतिशय

पुरुषार्थ (पुरुषत्व) की सिद्धि का फल] है, वे 'कामोपभोगपरम' हैं। ऐसे असुर लोग **एतावत् इति निश्चिताः**—पुरुष-जन्म लेकर मृत्युपर्यन्त सम्यक् प्रकार से विषय को भोगना—केवल इतना ही जन्म का फल है, क्योंकि देहपात के पश्चात् ही मोक्ष स्वतः ही होगा अतः पुरुषजन्म से अन्य कोई फल प्राप्तव्य नहीं है, ऐसा जिनका निश्चिव सिद्धान्त है, वे 'एतावदितिनिश्चिताः' अर्थात् इतना ही परमपुरुषार्थ है इसप्रकार निश्चय वाले होकर काम के भोग के लिये चेष्टा करते हैं, ऐसा आगे के श्लोक के साथ अन्वय करना पड़ेगा।

(३) **नारायणी टीका**—उक्त आसुरी प्रकृति सम्पन्न लोगों का दुष्पूरणीय काम (विषय-भोग की वासना) रहने के कारण वे कामोपभोगपरम होते हैं अर्थात् काम (भोग्य पदार्थ के उपभोग) को ही जीवन का परम (परम पुरुषार्थ) मानते हैं। ये वासनाएँ अनन्त होने के कारण अपने भोग तथा आत्मीयस्वजन के भोग के लिये जिस चिन्ता का अवलम्बन करके उनके जीवन का क्षण-प्रतिक्षण व्यतीत हो जाता है। वे चिन्ताएँ भी अपरिमेय हैं अर्थात् उनकी चिन्ताओं का नाप नहीं किया जा सकता एवं उनके जीवन की ओर कोई लक्ष्य वस्तु न रहने के कारण इसप्रकार सीमा से रहित (असीम) वे चिन्ताएँ प्रलयान्त हैं अर्थात् वे चिन्ताएँ प्रलय (मृत्यु) में ही अन्त (शेष) होती हैं यानी उन चिन्ताओं का प्रवाह मृत्यु तक (यावज्जीवन) चलता रहता है। वे 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' इसप्रकार चार्वाकमत का अनुसरण कर केवल देह के अनुकूल विषय भोग से जो दृष्ट सुख प्राप्त होता है वह सुख ही उनके जीवन की परमलक्ष्य वस्तु होती है, क्योंकि वे देह को ही आत्मा मानते हैं। अतः मृत्यु के पश्चात् लोक-परलोक या मोक्ष कुछ नहीं हैं—इसप्रकार निश्चय कर अर्थात् दृढ़ सिद्धान्त बनाकर काम (भोग्य पदार्थ) का भोग करने के लिये ही निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। [परवर्ती श्लोक का 'ईहन्ते कामभोगार्थं' इस अंश के साथ अन्वय करना होगा।]

फिर—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

अन्वय—आशापाशशतैः बद्धाः कामक्रोधपरायणाः (ते) कामभोगार्थम् अन्यायेन अर्थ संचयान् ईहन्ते ।

अनुवाद—वे ऐसी आसुर प्रकृतिवाले मनुष्य सैकड़ों आशापाशों से बद्ध हुए काम, क्रोध परायण होकर कामनाओं के भोग के लिये अन्याय से धन की राशियों को संचित (इकट्ठा) करने की चेष्टा किया करते हैं ।

भाष्यदीपिका—आशापाशशतैः बद्धाः-जिसकी प्राप्ति न की जा सके अथवा प्राप्ति का उपाय ज्ञात (विदित) न हो उस वस्तु की प्रार्थना (अभिलाषा) आशा है । वह आशा ही पाश (बन्धनरज्जु या जाल) के समान है अर्थात् जिस प्रकार रज्जु या जाल द्वारा प्राणिगण बद्ध होते हैं उसीप्रकार 'केवलमात्र काम ही पुरुषार्थ है' इस प्रकार से भावयुक्त हुए आसुरी प्रकृति से सम्पन्न व्यक्तिगण उन सैकड़ों आशाओं के समूह से (विषय-सुख की इच्छाओं से) बद्ध होकर ही श्रेय (कल्याणमार्ग) से च्युत होकर सब ओर से खींचे जाते हैं एवं इसीकारण **कामक्रोधपरायणाः**—उनके काम तथा क्रोध ही परम अयन (आश्रय) होते हैं, अतः वे कामक्रोधपरायण हैं. एवं ऐसे होकर [स्त्रीसह-वास की इच्छा और दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा से सर्वदा ग्रस्त होकर (मधुसूदन)] वे पुरुष **कामभोगार्थम्**—काम (भोग्यवस्तुओं) का भोग करने के लिए ही—धर्म के लिए नहीं **अन्यायेन**—अन्याय से अर्थात् दूसरों की सम्पत्ति के हरण आदि के द्वारा (अनेक पापमय युक्तियों यानी उपायों के द्वारा) **अर्थसंचयान् ईहन्ते**—अर्थ (धन) की राशि का संचय करने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् धनसमुदाय को इकट्ठा करने की चेष्टा किया करते हैं । ['अर्थसंचयान्' इस बहुवचन से भगवान् सूचित कर रहे हैं कि उनको धन की प्राप्ति हो जाने पर उनकी तृष्णा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है अतः वह तृष्णा या लोभ कभी निवृत्त नहीं हो सकता है, अतः अतृप्त लोभ के कारण वे अर्थलोलुप होकर बराबर धनसंचय के लिये ही चेष्टा किया करते हैं (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी (१) **श्रीधर**—अतः एव **आशापाशशतैः बद्धाः**—आशा ही पाश (बन्धन रज्जु) है। वे उन सैकड़ों आशारूप पाशों से बद्ध होकर इधर-उधर खींचे जाते हुए **कामक्रोधपरायणाः**—काम तथा क्रोध को ही पर (परम) अयन (आश्रय) करते हुए **कामभोगार्थम्**—काम (भोग्यवस्तुओं) को उपभोग करने के लिये **अन्यायेन**—अन्याय के द्वारा अर्थात् चोरी आदि के द्वारा **अर्थसंचयान् ईहन्ते**—धन के संचयों (राशियों) को प्राप्त करना चाहते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—फिर **आशापाशशतैः बद्धाः**—आशा (अप्राप्त पदार्थ की अभिलाषा) ही पाश (बन्धन की रस्सियां) हैं। उन सैकड़ों आशापाश के बन्धनों से बंधे हुए एवं उसी कारण **कामक्रोधपरायणाः**—काम क्रोध-परायण होकर वे असुरजन **कामभोगार्थम्**—काम अर्थात् माला आदि विषयों के भोग के लिये ही (न तो दान के लिये और न धर्म के लिये किन्तु विषयों के अनुभव के लिये ही) **अन्यायेन**—कपट, वंचना आदिरूप अन्याय (शास्त्रविरुद्ध) मार्गों से (उपायों से) **अर्थसंचयान् ईहन्ते**—धनका संय करते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—जिन असुरजनों का 'यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' अर्थात् ऋण लेकर भी घी पीओ एवं चाहे जिस किसी उपाय से जब तक जीवित रहो तब तक सुख से रहो अर्थात् देह-इन्द्रियों को सुख पहुँचाओ—यही जिनके जीवन का परमोद्‌देश्य है वे प्रवृत्तिमार्ग को छोड़कर निवृत्ति की ओर कभी जा नहीं सकते। विषय अनन्त हैं, अतः उनकी प्राप्ति के लिये इन लोगों की आशा की भी अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की अभिलाषा की भी सीमा (अन्त) नहीं है। अतः पशु-पक्षी आदि जिसप्रकार पाश (रज्जु) से या जाल से बद्ध होकर इधर-उधर भटकते हैं एवं विक्षेप, चांचल्य, अशान्ति तथा भय से ही सदा युक्त रहते हैं, उसीप्रकार वे असुर-जन भी शत-शत आशापाशों से बद्ध होकर सब ओर से खींचे जाते हुए काम (विषय-भोग) तथा क्रोध परायण होते हैं अर्थात् निरन्तर काम (विषय-भोग की वासना) में लिप्त रहते हैं। किन्तु वे काम दुष्पूर (कभी पूर्ण होने के जो योग्य नहीं) हैं, यह पहले ही कह चुके हैं (गीता १६।१०)। अतः वह काम सदा ही प्रतिहत होने के कारण अर्थात् प्रतिकूल अवस्था से अपूर्ण रहने के कारण वह स्वतः ही क्रोध में परिणत होता है

अतः उनका दिन-रात काम तथा साथ ही साथ क्रोध ही परम अयन (आश्रय) बन जाते हैं। क्रोध से पुरुष विवेकहीन हो जाता है, अतः वे काम (भोग्यवस्तुओं का उपभोग करने) के लिये अपना धर्म तथा कल्याण की भावना को त्याग करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, प्रतारणा, हत्या इत्यादि अनेक दुष्ट उपायों के द्वारा अर्थसंचय (धन-समुदाय को इकट्ठा) करने की चेष्टा करते हैं। जितनी ही धन की प्राप्ति होती है उतनी ही धन की तृष्णा (लोलुपता) बढ़ती ही जाती है। यही 'अर्थ संचयान्' इस बहुवचन से सूचित किया है। एवं साथ ही साथ अन्याय से अधिकतर अन्याय कर्म में (निषिद्ध कर्म) में उनकी प्रवृत्ति भी बढ़ती रहती है। अतः इहकाल में यथार्थ सुख तथा शान्ति से विच्युत होकर परलोक के लिये निकृष्ट गति के मार्ग को भलीभाँति तैयार कर लेते हैं।

फिर उनका अभिप्राय ऐसा होता है कि—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

अन्वय—अद्य मया इदम् लब्धम्, इदम् मनोरथम् प्राप्स्ये, इदम् मे अस्ति, इदम् अपि धनम् पुनः (मे) भविष्यति।

अनुवाद—आज मैंने यह पा लिया है, इस मनोरथ को भी पा लूँगा, यह तो मेरे पास है, अब यह धन भी मेरे पास फिर हो जायगा।

भाष्यदीपिका—अद्य-आज (इस समय) मया इदम् लब्धम्-(इस उपाय से) यह धन (गो, स्वर्णादि वस्तुओं का यह परिमाण) मुझे प्राप्त हुआ है इदम् मनोरथम् प्राप्स्ये-इस (धन) से दूसरा मनोरथ (मन को संतुष्ट करनेवाला भोग्य पदार्थ भी) शीघ्र ही प्राप्तकर लूँगा। इदम् मे अस्ति-यह तो पहले से ही मेरे पास (मेरे घर में) संचित है इदम् अपि धनम् पुनः (मे) भविष्यति-यह भी बहुत सा धन आगामी वर्ष में मेरे पास फिर हो जायगा (एवं उससे मैं धनवान् नाम से विख्यात हो जाऊँगा) [इस प्रकार धन की तृष्णा से व्याकुल वे लोग नरक में गिरते हैं-इस श्लोक का आगे के सोलहवें श्लोक के साथ अन्वय है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) –श्रीधर––उनके मनोराज्य का कथन करते हुए 'इदमद्य' इत्यादि चार श्लोकों से उनको नरक की प्राप्ति होने का वर्णन करते हैं–**इदमद्य मया इत्यादि**–आज मुझे यह प्राप्त हुआ है, अब इस मनोरथ को (मन को प्रिय लगने वाले पदार्थों को) भी प्राप्त करूँगा। **इदम् अस्ति**—मेरे पास यह इतना धन है। **इदम् अपि धनम् पुनः मे भविष्यति**–तथा इतना यह धन फिर हो जायगा। [इस श्लोक तथा आगे के दो श्लोकों का 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' इस सोलहवें श्लोक के वाक्य के साथ अन्वय है।]

(२) शंकरानन्द—अन्याय से धन के सम्पादन (इकट्ठा करने) में तत्पर असुरों के हृदय में जैसे संकल्प उठते हैं उन्हे कहते हैं—'इदम्' इत्यादि तीन श्लोकों से–इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—आसुरभावापन्न लोगों की प्रवृत्ति तथा अन्तिम गति क्या है ? उसे कहते हैं—इन लोगों की गति तो नरक है, इससे अच्छी गति और क्या हो सकती है ? क्योंकि इन मूढ़ लोगों की धन (गो आदि पशु, स्वर्णादि पदार्थ, भूमि आदि सम्पत्ति) की तृष्णा सदा ही अत्यन्त प्रबल रहती है। आज (इस समय) इतना धन तो मुझे प्राप्त हो गया तथा इससे मैं मन को प्रिय लगनेवाले मनोरथों को पूर्ण करूँगा। इतना धन तो मेरे पास है, इसका एक पैसा भी दान धर्म के लिये खर्चा नहीं करूँगा तथा इस धन से अगले वर्ष फिर मैं इतना धन और संचित कर सकूँगा। इस प्रकार शीघ्र ही मैं धनी होकर समाज में तथा देश-विदेश में पूज्य एवं सम्मानित हो जाऊँगा, इस प्रकार वे लोग निरन्तर चिन्तन करते हैं। अतः दिन-रात विषयों में अनुरक्त रहने के कारण एवं अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को सदाही दुःख देने के कारण वे अधः से अधः (नीची से नीची) गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् नरकगामी होते हैं।

पृथ्वी के अधिकांश लोग ही इस प्रकार से आसुरी प्रकृति से सम्पन्न हैं। अतः उनके कारण संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख व्याप्त हो गया है। इनके स्वभाव (प्रकृति) की आलोचना करके किसी प्रकार का आसुरभाव सूक्ष्मरूप से भी विद्यमान है कि नहीं इसका विचार करके उसका घृणा के साथ त्याग कर देना ही अर्जुन का कर्तव्य है–यही सूचित करने के लिये भगवान् ने विस्तृतरूप से यहाँ आसुरी सम्पद् का वर्णन किया।

पूर्व श्लोक में इन लोगों का विवरण देते हुए उनके अभिप्राय तथा लोभ से उत्पन्न हुए क्रोध का वर्णन करते हैं—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

अन्वय—असौ शत्रुः मया हतः, अपरान् अपि च हनिष्ये, अहम् ईश्वरः, अहम् भोगी, अहम् सिद्धः, बलवान् , सुखी च ।

अनुवाद—मैंने इस शत्रु को मार डाला, अब दूसरे शत्रुओं को भी मार डालूँगा, मैं ईश्वर (सर्वशक्तिमान) हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ और सुखी हूँ ।

भाष्यदीपिका—असौ शत्रुः मया हतः—यह देवदत्त नामक बड़ा प्रसिद्ध दुर्जयशत्रु मेरे द्वारा मारा जा चुका । अतः इसप्रकार से **अपरान् अपि च हनिष्ये**—अब दूसरे और सब पामर (निर्बल) शत्रुओं को भी अनायास में ही मार डालूँगा । यह बिचारे गरीब मेरा क्या करेंगे क्योंकि किसी प्रकार से भी वे मेरे समान नहीं हैं, यही कहने का अभिप्राय है ['अब मेरे हाथ से कोई भी जीवित नहीं रहेगा'—यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । 'च' शब्द का तात्पर्य यह है कि मैं उन्हें मारूँगा ही नहीं बल्कि उनके धन, स्त्री, आदि को भी ले लूंगा यदि कोई कहे कि 'तुम्हारी ऐसी सामर्थ्य कैसे है, क्योंकि तुम्हारी अपेक्षा तो और बड़े शत्रु भी हो सकते हैं ? इसपर कहते हैं—(मधुसूदन)] **अहम् ईश्वरः**—मैं ईश्वर हूँ [अर्थात् मैं केवल मनुष्य ही नहीं हूँ वरन् मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर हूँ । अतः मेरे समान या मुझसे बढ़कर कोई नहीं हो सकेगा—इसी अभिप्राय से उसकी ईश्वरता का विवरण करते हैं (मधुसूदन)] फिर **अहम् भोगी**—मैं भोगी हूँ अर्थात् समस्त भोग सामग्रियों से सम्पन्न हूँ । **अहम् सिद्धः**—मैं सब प्रकार से सिद्ध हूँ अर्थात् पुत्र, भृत्य आदि सहायकों से सम्पन्न हूँ । **अहम् बलवान्**—मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ किन्तु बड़ा बलवान् (ओजस्वी अर्थात् अति तेजस्वी यानी शत्रु की पराजय करने के योग्य शारीरिक सामर्थ्य से सम्पन्न) हूँ तथा **अहम् सुखी च**—मैं सुखी भी हूँ [अर्थात् सर्वप्रकार से निरोग हूँ (मधुसूदन) । दूसरे सब तो भूमि पर भाररूप से ही उत्पन्न हुए हैं] ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस श्लोक में 'सिद्ध' का अर्थ कृतकृत्य है। अन्य पदों का अर्थ तो स्पष्ट ही है।

(२) शंकरानन्द—अहम् ईश्वरः—मैं विद्या, धन आदि से समर्थ हूँ। **अहम् सिद्धः**—पुत्र से, पौत्र से, पशुओं से, धनधान्य से सम्पन्न यानी कृतकृत्य हूँ। श्लोक का अवशिष्ट अंश स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—आसुरी प्रकृति से सम्पन्न हुए लोग किसप्रकार हिंसावृत्ति को एवं अनित्य (विनाशशील अर्थात् क्षणभंगुर) शरीरादि को तथा मिथ्या विषयरूप सम्पत्ति को अवलम्बन करके गर्व का अनुभव करते हैं उसका वर्णन श्रीभगवान् कह रहे हैं क्योंकि दैवी सम्पद् से (देव अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित करने वाली साधन सम्पत्तियों से) जो लोग (हतभाग्य पुरुष) रहित हैं उनके लिये इसप्रकार आसुरीभाव से पूर्णरूप से विवेकहीन होना अत्यन्त स्वाभाविक है एवं संसार में इस श्रेणी के मनुष्य की संख्या ही अधिकतम है।

आसुरीवृत्ति से सम्पन्न हुए लोगों में काम (विषयभोग की वासनाएं) अत्यन्त प्रबल रहती है, यह पहले कह चुके हैं। जिधर काम है उधर क्रोध तथा हिंसा भी अवश्यम्भावी है। इसलिये असुरलोग अपनी देह-इन्द्रियादि के प्रतिकूल किसी वस्तु को सहन नहीं कर सकते हैं। जब तक कि उस प्रतिकूल शत्रु का नाश नहीं करते हैं तब तक उनकी तृप्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये सर्वप्रयत्नों से यदि किसी प्रबल-दुर्जय शत्रु का विनाश वे कर भी लें तो भी उनकी हिंसावृत्ति की निवृत्ति न होकर उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्ति होती है अर्थात् एक दुष्टकर्म में सफलता मिलने के पश्चात् उनकी हजारों-हजारों दुष्ट-कर्म करने की प्रवृत्ति स्वतः ही उदित होती है। इसलिये नवमें श्लोक में भगवान् ने कहा—'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः' अर्थात् वे उग्रकर्मा (क्रूर कर्म करनेवाले), हिंसापरायण पुरुष संसार के शत्रु हैं तथा संसार का नाश करने के लिये ही उत्पन्न होते हैं। आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप है दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध इत्यादि। यहाँ भी उन सब दुर्गुणों का ही विस्तार से श्रीभगवान् वर्णन कर रहे हैं। किसी बलवान शत्रु का निधन करने पर वे असुर लोग दर्प तथा क्रोध से कहते हैं कि जब इसप्रकार का बलवान् शत्रु ही मेरे द्वारा मारा जा चुका है तो दूसरे निर्बल शत्रुओं को तो मैं

अनायास ही मार डालूंगा क्योंकि वे तो किसी प्रकार से भी मेरे समान नहीं हैं। केवल उनको मार ही नहीं दूंगा बल्कि उनकी धन-सम्पत्ति तथा स्त्री आदि को भी छीन लूंगा, ('अपि' शब्द से यही सूचित किया गया है)। फिर उनके सहायक जो पामर लोग हैं, उनका भी मैं विनाश कर दूंगा ('च' शब्द का यही अभिप्राय है।) ऐसा करना मेरे लिये कोई असम्भव बात नहीं है क्योंकि मैं ईश्वर अर्थात् सर्वशक्ति से सम्पन्न हूँ। संसार में जो धन तथा भोग की सामग्री से सम्पन्न है वह अन्य विषयासक्त जीवों के भोग की पूर्ति के लिये सहायक होकर उनको वशीभूत कर सकता है। मैं तो भोगी हूँ अर्थात् सर्वप्रकार के भोगों के उपकरण (सामग्री) मेरे पास हैं। अतः मैं अन्य सबको अपने वश में करके अपने प्रतिकूल शत्रु का अनायास ही विनाश करने में समर्थ हूँ। दूसरी बात यह है कि संसार में धनबल के साथ-साथ जिसके पास जनबल भी है, उसकी सामर्थ्य तो और अधिकतर होती है और मैं तो सिद्ध हूँ अर्थात् पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, भृत्य प्रभृति जनबल से पूर्णरूप से सम्पन्न हूँ अथवा स्वजन से, मानप्रतिष्ठा से अज्ञानी मनुष्य जिसप्रकार अपने को सिद्ध यानी कृतकृत्य मानते हैं, उसी प्रकार मैं भी सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य हूँ। फिर केवल मेरे पास सर्वप्रकार की भोग की सामग्री तथा जनबल ही नहीं है, मैं तो स्वयं भी बलवान हूँ अर्थात् शत्रु को पराजित करने के लिये जिस शारीरिक सामर्थ्य की आवश्यकता है उस सामर्थ्य से मैं पूर्णतया सम्पन्न हूँ। उक्तप्रकार सभी तरह से सम्पन्न होने पर भी यदि शरीर में कोई रोग रहे तो वह कभी सुखी नहीं हो सकता किन्तु मेरी शारीरिक सामर्थ्य के साथ ही साथ मेरा शरीर तो सर्वप्रकार से रोगों से मुक्त है, अतः मैं सुखी हूँ। इसलिये मेरे समान संसार में अन्य कोई इतना भाग्यवान् नहीं है। अतः मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ किन्तु सबका शासन करने की शक्ति से युक्त होने के कारण मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप हूँ। दूसरे सभी व्यक्ति तो पृथ्वी का भार ही हैं। अतः यदि कोई मुझसे शत्रुता करेंगे तो उनका बध करना ही मेरे लिये उचित होगा। इसप्रकार दम्भ, दर्प (अभिमान) आदि से युक्त होकर वे (असुर) लोग दूसरे का नाश करना ही जीवन की सार्थकता निश्चय कर लेते हैं परन्तु अज्ञान से विमूढ़ होकर वे अविवेकी मूढ़जन (असुरजन) यह नहीं सोच सकते कि जिस शरीरादि की सामर्थ्य से वे इतना गर्व करते हैं, वे शरीरादि तो मृत्यु के गाल में

पड़े हैं अर्थात् किसी क्षण उनका नाश हो सकता है और जिन धन सम्पत्ति, पुत्र, पौत्रादि का अभिमान करके इसप्रकार निष्ठुर कर्म करने में उद्यत होते हैं, वे सब भी क्षण भर में ही कर्पूरबत्ती के समान शून्य में लय हो जायेंगे, इनकी रक्षा करना या स्थिर रखना उन मूढ़ लोगों के वश में नहीं है।

'धन अथवा कुल में तो कोई और भी तुम्हारे समान हो सकता है'—ऐसी शंका हो तो वे कहते हैं—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

अन्वय—(अहम्) आढ्यः अभिजनवान् च अस्मि, मया सदृशः अन्यः कः अस्ति, अहम् यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्य च इति अज्ञानविमोहिताः (ते सन्ति)।

अनुवाद—मैं धनवान् तथा कुलीन हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, मैं धन का दान करूँगा एवं इससे मोदित (हर्षित) होऊँगा। इस प्रकार के अज्ञान से वे विशेषरूप से मोहित होते हैं।

भाष्यदीपिका—अहम् आढ्यः—मैं धनी हूँ (धन से सम्पन्न हूँ) **अभिजनवान् च अस्मि**—['अभिजन' शब्द का अर्थ 'महाकुल' है-उस कुल में जो जन्म ग्रहण करता है वह 'अभिजनवान्' है।] मैंने उच्चकुल में जन्म लिया है अर्थात् सात पीढ़ियों से क्षत्रिय आदि के गुणों से सम्पन्न हूँ। अतः **मया सदृशः अन्यः कः अस्ति**—धन तथा कुल में भी मेरे समान दूसरा कौन है? अर्थात् कोई भी नहीं है [प्रश्न होगा कि धन तथा वंशगौरव में तुम्हारे समान कोई नहीं है किन्तु यज्ञ, दान आदि में तुम्हारे समान बहुत से मनुष्य तो हैं, इस पर कहते हैं—] **यक्ष्ये**—मैं यज्ञ करूँगा अर्थात् यज्ञ के द्वारा ही दूसरों को अभिभूत करूँगा (दबा दूँगा) अर्थात् इस प्रकार विशाल यज्ञ करूँगा जो दूसरे के द्वारा होना सम्भव नहीं होगा। अतः इस प्रकार की यज्ञ के द्वारा मैं सबकी दृष्टि में महाप्रतिष्ठा को प्राप्त करूँगा। **दास्यामि**—फिर मैं दान भी करूँगा अर्थात् जो मेरी स्तुति करते हैं ऐसे व्यक्तियों को और नट आदि को धन दूँगा एवं इस प्रकार के कार्य द्वारा **मोदिष्ये**—मोदित होऊँगा अर्थात्

अतिशय हर्ष को प्राप्त होऊँगा। [स्तुति करनेवाले की स्तुति से एवं नर्तकी आदि के संग से हर्ष का उपभोग करूँगा—यही कहने का अभिप्राय है।] इति—इस प्रकार के **अज्ञानविमोहिताः (ते सन्ति)**—विवेकशून्यता से विशेषरूप से अथवा विविध प्रकार के मोह को (भ्रमपरम्परा को) प्राप्त होते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर एक भ्रम से दूसरे भ्रम में गिरते रहते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अहम् आढ्यः—मैं धन आदि से सम्पन्न हूँ। **अभिजनवान् अस्मि**—मैं कुलीन हूँ। **मया सदृशः अन्यः कः अस्ति**–मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं **यक्ष्ये**—यज्ञ करूँगा अर्थात् यागादि के अनुष्ठान द्वारा भी अन्य दीक्षितों की (दीक्षा लेनेवालों की) अपेक्षा महती प्रतिष्ठा को प्राप्त करूँगा। **दास्यामि**–स्तुति करनेवालों को दान दूँगा। **मोदिष्ये**—प्रमोद अर्थात् हर्ष को प्राप्त करूँगा। **इति अज्ञानविमोहिताः**—इस प्रकार के अज्ञान से मोहित होकर वे देहादि तथा मिथ्या विषय के अभिनिवेश से (मैं और मेरापन से) युक्त हुए रहते हैं।

(२) शंकरानन्द—आढ्यः—बहुधन से सम्पन्न **अभिजनवान्**–अनूचान अर्थात् समस्त अङ्गों के साथ वेद के ज्ञाता [अतः **कः अन्यः अस्ति इत्यादि**—मेरे समान दूसरा कौन है ?] **यक्ष्ये**—यज्ञ करूँगा अर्थात् प्रतिष्ठा, धन या आयुवृद्धि के लिये याग करूँगा **दास्यामि**—दान दूँगा यानी स्तुति करनेवाले नट, विट आदि को दान दूँगा–श्रोत्रियों तथा बन्धुओं को **मोदिष्ये**—मुदित होऊँगा अर्थात् देकर, भोगकर संतोष को प्राप्त होऊँगा। **इति अज्ञानविमोहिताः**—इस प्रकार अज्ञान से अर्थात् सत् एवं असत् के विवेक के अभाव से विमोहित–विविध (अनेक) प्रकार से मोहित (मोह को प्राप्त) होते हैं।

(३) नारायणी टीका—असुरजन सदा ही अपने धन तथा कुल का माहात्म्य प्रचार करके अपने मान को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, यह उनका स्वभाव है। जिधर ही जाते हैं उधर ही अपने चरित्रबल या नीति के बल से प्रतिष्ठित होने की चेष्टा न कर धन या कुल के अभिमान से 'मैं धनवान् हूँ', 'मैं वेदज्ञ ब्राह्मणों के उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हूँ'–इस प्रकार कहकर अपने स्वभावसिद्ध दर्प को प्रकट करते हैं। यदि

कोई कहे कि तुमसे तो बहुत से और श्रेष्ठ व्यक्ति हैं जो याग करके, दान करके अपने को संतुष्ट तथा प्रसन्न करते हैं तो वे इस प्रकार की बात को सहन नहीं कर सकते हैं। वे भी निश्चय कर लेते हैं कि मैं भी विशाल यज्ञ करूँगा जो दूसरे के लिये संभव नहीं है। परन्तु उनकी आत्मबुद्धि देहादि में एवं समस्त आसक्ति बाह्यविषयों में ही रहने के कारण यदि वे यज्ञ करें तो अपनी प्रतिष्ठा के लिये या धन के लिये अथवा आयुवृद्धि के लिये और नहीं तो दूसरे का नाश करने के लिये या परस्त्री को वशीभूत करने के लिये ही करेंगे—परमात्मा की यज्ञ द्वारा आराधना करके अपनी चित्तशुद्धि के सम्पादन के लिये नहीं। अन्य अज्ञानी की दृष्टि में यह व्यक्ति अत्यन्त दानी है, इस प्रकार के भाव को प्रतिष्ठित करने के लिये अर्थात् अपना प्रचार करने के लिये दान भी करेंगे परन्तु जो उनकी स्तुति करते हैं अथवा जो नृत्य तथा संगीत के द्वारा उनको तुच्छ सुख देते हैं, उन नट, विट आदि के लिये ही वे दान करते हैं परन्तु देश, काल तथा पात्र का विचार करके श्रोत्रिय ब्राह्मण को, दरिद्र को तथा दुःखी बन्धुओं को नहीं देते हैं अर्थात् जो कुछ वे देते हैं वह तामसिक दान ही होता है। यज्ञ, दानादि से अपनी स्वार्थसिद्धि करना ही उनका एक मात्र उद्देश्य होता है। इसलिये स्तावकों की स्तुति से तथा नर्तकी आदि के सङ्ग से वह तामसिक मोद (संतोष) प्राप्त करने के लिये ही इस प्रकार की दानादि क्रियायें करते हैं। अतः वे अनात्मदेहादि से आत्मा का विवेक करने में असमर्थ होकर अज्ञान से (माया से) नानाप्रकार के मोह में पतित होते हैं एवं एक भ्रम से दूसरे अधिकतम भ्रम में जाते हैं अर्थात् कल्याण के मार्ग से विच्युत होकर घोर नरक की ओर दौड़ते रहते हैं।

इस प्रकार मोहप्राप्त विवेकहीन व्यक्तियों का क्या परिणाम होता है, उसका वर्णन करते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अन्वय—अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः, कामभोगेषु प्रसक्ताः ते अशुचौ नरके पतन्ति।

अनुवाद—वे चित्त के अनेकों दुष्ट संकल्पों से भ्रान्त, मोहपाश से घिरे हुए तथा काम एवं भोगों में अत्यन्त आसक्त होने के कारण मृत्यु के पश्चात् अपवित्र नरक में पतित होते (गिरते) हैं।

भाष्यदीपिका—अनेकचित्तविभ्रान्ताः—उपर्युक्त अनेक प्रकार के चित्तों (दुष्ट-संकल्पों) से विविधरूप से (तरह-तरह से) भ्रान्त हुए **मोहजालसमावृत्ता**-तथा मोहरूप जाल में फँसे हुए अर्थात् अविवेक मोह है, वह जाल के समान फंसाने वाला होने से जाल है, उसमें फंसे हुए [मोह अर्थात् हित एवं अहितरूप वस्तु के विवेक की असमर्थता, वही आवरणात्मक (नित्य, सत्य वस्तु को आवृत करनेवाला) और बन्धन का हेतु होने से जाल है, उससे सब ओर से आवृत्त (घिरे हुए) अर्थात् तन्तुमय जाल से जिस प्रकार मछली वशीकृत होती है उसी प्रकार मोहरूप जाल से परवश किये हुए (मधुसूदन)] **कामभोगेषु प्रसक्ताः**—तथा अनिष्ट का अर्थात् दुःखमय जन्म-मृत्युरूप संसार चक्र का कारण होने पर भी उन काम (विषय) भोगों में ही अत्यन्त आसक्त हुए अर्थात् उन्हीं में गहरे डूबे हुए [एवं उन भोगों के द्वारा प्रतिक्षण जिनका पाप बढ़ रहा है, ऐसे] वे लोग **अशुचौ नरके पतन्ति**-विष्ठा, मूत्र तथा कफ आदि से भरे हुए वैतरणी आदि अपवित्र नरकों में गिरते हैं।

टिप्पणी (१)-श्रीधर—उक्त प्रकार के लोग जिस फल को पाते हैं वह सुनो—**अनेकचित्तविभ्रान्ताः**-अनेक मनोरथों में प्रवृत्त रहनेवाले चित्त को 'अनेकचित्त' कहा जाता है। उसके द्वारा वे (असुरजन) विभ्रान्त (विक्षिप्त) रहते हैं एवं उसीकारण से ही **मोहजालसमावृताः**—जैसे मछलियाँ सूत्रमय जाल से सब ओर से आवृत्त रहती हैं, उसी प्रकार वे भी मोहमय जाल से सम्यक् प्रकार आवृत (जकड़े) रहते हैं। अतः **कामभोगेषु प्रसक्ताः**—इस प्रकार काम को अर्थात् भोग्य पदार्थों को भोगने में अत्यन्त आसक्त (अर्थात् सर्वप्रकार से तन्मय) हुए लोग **अशुचौ नरके पतन्ति**-अशुचि अर्थात् अपवित्र एवं दुःखमय नरक में पतित होते (गिरते) हैं।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार काम के संकल्प से अनेक प्रकार के भावों को प्राप्त हुए काम परायण असुरजनों की प्रवृत्ति का फल कहते हैं-**अनेकचित्तविभ्रान्ताः**—'इदमद्य मया लब्धं' यह आज मैंने प्राप्त किया, इस प्रकार के अनेक-

विधचित्तों के विकारों से विभ्रान्त (अनेक प्रकार से भ्रान्त), **मोहजालसमावृताः**— मोह अर्थात् सत् एवं असत् के विवेक का अभाव। वही मछलियों के जाल के समान आवरणात्मक तथा नाशक होने के कारण जाल है, उससे सम्यक् प्रकार से (भलीभांति) आवृत्त (तिरोहित) विवेकवाले, इसीलिये **कामभोगेषु प्रसक्ताः**—काम (विषय) के भोग (सेवा) में ही प्रसक्त (अधिक आसक्त) होते हैं यानी विषय-भोग के बिना अन्य किसी स्वधर्म के पालन में आसक्त (परिनिष्ठित) नहीं है, इसलिये **अशुचौ नरके पतन्ति**—श्लेश्म-पीव के कुण्डरूप होने के कारण रौरव आदि नरक अशुचि हैं, उन अशुचि (अपवित्र) नरकों में वे गिरते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती तेरहवें से पन्द्रहवें श्लोकों तक जिसप्रकार असुरजनों के चित्त के संकल्प का वर्णन किया गया है उसीप्रकार अनेक दुष्ट संकल्पयुक्त चित्त से तथा उससे उत्पन्न हुए विकारों से विविधरूप से (अनेक प्रकार से) वे भ्रान्त रहते हैं अर्थात् मायामरीचिका के समान इन विषय प्रपंचों में ही चित्त के अशेष कल्पनाप्रवाह के चलने के कारण वे अनवरत भ्रान्ति से भ्रान्ति-में बहते रहते हैं। अतः नित्य, सत्य तथा सुखस्वरूप आत्मवस्तु का संधान (खोज) नहीं कर सकते। इस कारण से वे मोहरूप जाल में सम्यक् प्रकार से (सब ओर से) आवृत रहते हैं। अनात्म देहादि आत्मवस्तु की विवेक (पृथक्) करने की असामर्थ्य अथवा अहित वस्तु से हितवस्तु के विवेक करने की असामर्थ्य को मोह कहते हैं। सूत्रों से ग्रथित जाल से जिसप्रकार मछलियां चारों ओर से आवृत (घिरी हुई) होकर बद्ध एवं वशीभूत होती हैं उसी प्रकार मोह भी सर्वत्र व्याप्त आत्मा को आवृत करके जीव के बन्धन का तथा परवश का (अस्वतन्त्रता का) हेतु होने के कारण जाल ही है। उस जालद्वारा असुर लोग सर्वप्रकार से आवृत रहते हैं। फिर काम (विषय) के भोगों में ही वे लोग प्रकृष्टरूप से (भलीभांति) आसक्त रहते हैं एवं इस प्रकार भोगों की पूर्ति के लिये वे निरन्तर हिंसा, द्वेष आदि में रत होते हुए पापकर्म करते रहते हैं एवं उन कर्मों के फलरूप से वे केवल साधारण नरक में ही नहीं वरन् अशुचि अर्थात् विष्ठा, मूत्र आदि से परिपूर्ण हुए वैतरणी या रौरव आदिरूप नरकों में पतित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन का चरमोद्देश्य जो परमानन्द की प्राप्ति है उसे तो इस प्रकार

असुरजन स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर सकते बल्कि घोर (शास्त्रविरुद्ध निष्ठुर) कर्मों के फलरूप से इस प्रकार के दुःखमय, यातनामय तथा अतिगंधमय स्थान में उनको जाना पड़ता है जिससे कि शत-सहस्र वर्षों में उनका निकलना सम्भव नहीं होता है।

किन्तु उनमें भी किन्हीं-किन्हीं की यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्मों में प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिये उनका नरक में गिरना उचित नहीं है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं—नहीं,

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अन्वय—आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ते दम्भेन अविधिपूर्वकम् नामयज्ञैः यजन्ते ।

अनुवाद—वे अपने आप को सर्वगुणसम्पन्न मानकर आप ही अपने को बड़े (पूज्य) माननेवाले, स्तब्ध (विनय अर्थात् नम्रताशून्य), धन के हेतु मान (अभिमान) एवं मद से युक्त होकर दम्भपूर्वक (धर्मध्वजीपन से) वे लोग अविधिपूर्वक नाममात्र के यज्ञ से (शास्त्रोक्त अङ्ग तथा इतिकर्तव्यताशून्य यज्ञ द्वारा) पूजन किया करते हैं।

भाष्यदीपिका—**आत्मसम्भाविताः**—वे 'हम सर्वगुण सम्पन्न हैं' इस प्रकार सम्यग्रूप से भावित (पूजनीय के पद पर प्रतिष्ठित) होकर आप ही अपने को बड़ा (पूज्य) मानते हैं किन्तु साधुपुरुष द्वारा वे श्रेष्ठ नहीं माने जाते हैं। वे **स्तब्धाः**—अनम्र (विनयरहित) होते हैं अर्थात् अपने को सबसे श्रेष्ठ या पूज्य मानने के कारण वे किसी के निकट अपने सिर को प्रणत नहीं कर सकते अर्थात् किसी का आदेश मस्तक अवनत कर ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते। इसका विशेष कारण यह है कि वे **धनमानमदान्विताः**—धन के कारण हुआ जो मान (अपने में पूज्यत्व की विशेषता का अध्यास) एवं उस अध्यास से उत्पन्न हुआ जो मद (दूसरे गुरु आदि में भी अपूज्यत्व का अभिमान) है उन दोनों में अन्वित (व्याप्त) रहते हैं। इसलिये शास्त्र के वाक्यों में श्रद्धाहीन होने के कारण **ते दम्भेन**—वे दम्भपूर्वक (धर्मध्वजितापूर्वक श्रद्धापूर्वक नहीं) **अविधिपूर्वकम्**—शास्त्रोक्त विधि से नहीं किये हुए (शास्त्रोक्त

अङ्ग तथा इतिकर्तव्यताशून्य) **नामयज्ञैः यजन्ते**—केवल नाममात्र के यज्ञ के द्वारा [शास्त्रविहित यथार्थ यज्ञ से नहीं अथवा 'ये दीक्षित हैं, ये सोमयागी हैं,' इस प्रकार नाममात्र का सम्पादन करने वाले यज्ञ से (मधुसूदन)] यजन (पूजन) किया करते हैं [अतः वे इन सब यज्ञों के फल के भागी भी नहीं होते हैं—ऐसा कहने का तात्पर्य है ।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—'मैं यज्ञ करूँगा' इस प्रकार जो उनका मनोरथ कहा गया है उससे केवल दम्भ और अहंकार आदि की प्रधानता ही सूचित होती है—सात्त्विक भाव की नहीं, इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये 'आत्मसम्भाविताः' इत्यादि दो श्लोकों से श्रीभगवान् कहते हैं—**आत्मसम्भाविताः**—वे स्वयं ही अपने आप को सम्भावित (पूज्य) मानते हैं किन्तु कोई साधु पुरुष इनको ऐसा स्वीकार नहीं करते । इसलिये वे **स्तब्धाः**—नम्रता (विनय) से रहित होते हैं क्योंकि वे **धनमानमदान्विताः**—धन के द्वारा जो मान (अभिमान) एवं मद (मत्तता) होते हैं वे उन दोनों से अन्वित (युक्त) होते हैं । इसलिये यज्ञादि कर्म करने पर भी **ते नामयज्ञैः यजन्ते**—जो नाममात्र के यज्ञ हैं, उन्हें 'नामयज्ञ' कहते हैं अथवा 'यह दीक्षित है, यह सोमयागी है' इत्यादिरूप से केवल नाममात्र की प्रसिद्धि के लिये जो यज्ञ किये जाते हैं वे नामयज्ञ हैं, उनके द्वारा वे यजन करते हैं । वे यज्ञ किस प्रकार से होते हैं ? इसपर कहते हैं **दम्भेन**—दम्भपूर्वक होते हैं परन्तु श्रद्धा से नहीं, तथा **अविधिपूर्वकम्**—विधि के उल्लंघनपूर्वक कर्म जिस प्रकार से होता है, उसी प्रकार ही वे यज्ञादि किये जाते हैं ।

(२) **शंकरानन्द**—ब्राह्मणत्व होने से उनके लिये भी वेदादि शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन की सम्भावना है अतः उनके द्वारा वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान भी होना सम्भव है । इसलिये शंका होती है कि इन वैदिकों का 'अशुचि' नरक में पतन कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि 'श्रद्धयाग्निः समिध्यते' (श्रद्धा से अग्नि दीप्त की जाती है) तथा 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति' (हे गार्गि, जो इस अक्षर को न जानकर इस लोक में होम करता है) इत्यादि श्रुति में युक्त लक्षणों के अभाव रहने के कारण उनके अविधिपूर्वक

किये गये यज्ञ से अर्थात् यज्ञ-आभास से ईश्वर प्रसन्न नहीं होता है क्योंकि वे भगवान् के नियमों का उल्लंघन करने में प्रवृत्त रहते हैं। इसलिये उन असुरों को नरक प्राप्त होना ही सिद्ध है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। **धनमानमदान्विताः**—वे असुरजन धन के निमित्त मान (गर्व) तथा मद (मत्तता) से अन्वित (युक्त) होते हैं। इसीलिये **आत्मसम्भाविताः**—आत्मा से (आप से ही न कि कई शिष्टों से) सम्भावित अर्थात् आदृत होते हैं। इसीलिये **स्तब्धाः**—नम्रताशून्य होकर **नामयज्ञैः**—वे नाममात्र के यज्ञ से अर्थात् वैदिक क्रिया या लक्षण से शून्य आभास यज्ञ से **अविधिपूर्वकम्**—नियतकाल, मन्त्र, होम और ऋत्विक् को अपेक्षा न कर (केवल अपनी बुद्धि के अनुसार) **दम्भेन**—अपने महत्व की प्रसिद्धि के लिये **यजन्ते**—यजन करते हैं—ईश्वर की प्रीति की सिद्धि के लिये नहीं।

(३) **नारायणी टीका**—इन उक्त प्रकार के असुरजनों को भी कभी-कभी यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए देखा जाता है। परन्तु वे यज्ञादि कर्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान की तृप्ति के लिये श्रद्धापूर्वक नहीं किये जाते हैं क्योंकि ये आसुरी-सम्पद्विशिष्ट लोग अपने को ही सर्वगुण तथा शक्तियों से विशिष्ट मानकर 'आत्म-सम्भावित' होते हैं अर्थात् वे आत्मा से (स्वयं ही) अपने आप को सम्भावित (पूजनीय के पद पर प्रतिष्ठित) किये रहते हैं। जो यथार्थ गुणी होते हैं उनको तो सभी साधुपुरुष (सज्जन) पूज्यपद पर स्वतः ही बैठाते हैं किन्तु असुरजन तो कोई माने या न माने अपने को ही पूज्य मानते हैं एवं दूसरों से पूजा कराना चाहते हैं। उनका भी भगवान् या कोई श्रेष्ठ व्यक्ति पूज्य है ऐसा मानने के लिये वे कभी तैयार नहीं होते हैं क्योंकि वे सदा ही 'धनमानमदान्वित' रहते हैं अर्थात् धन के निमित्त मान (अभिमान अर्थात् गर्व) एवं मद (मत्तता यानी दूसरे के प्रति हेय बुद्धि) से भरपूर रहते हैं। इसलिये वे स्तब्ध (नम्रता से रहित) होते हैं अर्थात् किसी के पास (शास्त्र अथवा गुरुजन के पास) श्रद्धा से मस्तक नत करके उनके आदेशग्रहण करने की सामर्थ्य उन असुरजनों में नहीं रहती है। अतः वे जो कुछ यज्ञादि कर्म करते हैं वे दम्भपूर्वक (धर्मध्वजितापूर्वक) किया करते हैं—श्रद्धा से नहीं अर्थात् 'मैं श्रेष्ठ धार्मिक हूँ' इसप्रकार सबके निकट प्रचार करने के उद्देश्य से ही वे सब कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, श्रद्धापूर्वक ईश्वर की प्रीति के

लिये नहीं। तथा वेदज्ञ ब्राह्मण एवं परम्परागत जो यज्ञादि करने की विधि चली आरही है उन सब के प्रति श्रद्धा नहीं रहने के कारण अपनी मलिनबुद्धि से जैसा निश्चय कर लेते हैं उसके अनुसार ही उन सब यज्ञादि कर्मों को सम्पन्न करते हैं, अर्थात् शास्त्र-विहित अङ्ग तथा इतिकर्तव्यता का पालन न करके अपनी रुचि के अनुसार ही उन्हें करते हैं। इसलिये वे यज्ञ केवल नाममात्र को ही यज्ञ होते हैं अर्थात् 'यह व्यक्ति यज्ञ में दीक्षित हुआ है, यह सोमयागी है', इसप्रकार से यज्ञकर्ता का नाम ही प्रचारित होता है परन्तु विधिनिषेध की अवहेलना करके एवं श्रद्धा से रहित होकर इस-प्रकार के यज्ञादि कर्म बहु अर्थव्यय तथा अनेक आडम्बरों के साथ किये जाने पर भी वे शास्त्रविहित यथार्थ यज्ञ नहीं हैं। फिर ऐसे यज्ञादि तामसयज्ञ होने के कारण उनके कर्ता यज्ञफल से वंचित रहते हैं, अतः इसप्रकार के यज्ञादि क्रियाओं के अनुष्ठान के द्वारा असुरजनों का नरक में गमन होना रोका नहीं जा सकता। श्रीभगवान् आगे कहेंगे कि श्रद्धाशून्य यज्ञ तामसयज्ञ है (गीता १७।१३) एवं अश्रद्धापूर्वक जो यज्ञ, दान, तपस्या आदि अनुष्ठित होते हैं, वे सभी असत् कहे जाते हैं। इसलिये वे न तो परलोक में और न इहलोक में ही किसी फल का दान करने में समर्थ होते हैं (गीता १७।२८)।

पूर्वोक्त श्लोक में कहा गया है कि दम्भ; मान तथा, अश्रद्धा के कारण आसुरी सम्पद् वाले पुरुषों के द्वारा तो यज्ञ, दानादि रूप कर्म अनुष्ठित होते हुए भी वे उनके कल्याण के साधन नहीं बन पाते हैं। अतः उनके लिये मोक्ष के अन्तरङ्ग साधन जो ज्ञान वैराग्य, ध्यान, धारणा तथा समाधि हैं, वे तो उनसे दूर ही रह जाते हैं। अब श्रीभगवान् इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अन्वय—अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् च संश्रिताः, माम् आत्मपर-देहेषु प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः (भवन्ति)।

अनुवाद—वे अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध का ही आश्रय लिये रहते हैं, अपने और दूसरे के शरीर में स्थित मुझ (परमात्मा) का अत्यन्त द्वेष करते हैं तथा

(जो वैदिक मार्ग का अनुसरण करते हैं एवं ईश्वर में विश्वास रखते हैं ऐसे साधुजनों के तथा गुरु आदि के) गुणों में दोषों का दर्शन करते हैं।

भाष्यदीपिका—अहंकारम्—हम-हम करने का नाम अहंकार है। जो गुण विद्यमान हैं तथा जो विद्यमान नहीं हैं उन सब गुणों को अपने में आरोपित कर 'मैं उन सब गुणों से विशिष्ट हूँ' इसप्रकार से अपनी महत्ता का अभिमान ही अहंकार है। यह अहंकार ही अविद्या नाम से विख्यात है। यह समस्त दोषों का मूल होने के कारण सबसे कष्टदायक है तथा यही समस्त अनर्थमय प्रवृत्तियों का मूल कारण भी है। [अतः सभी विवेकी पुरुषों को अत्यन्त प्रयत्न से इस अहंकार का त्याग करना उचित है— यही कहने का अभिप्राय है।] तथा **बलम्**—काम तथा राग से युक्त होकर जो शरीरगत (दैहिक) सामर्थ्यविशेष दूसरे को पराभूत करने की होती है उसे बल कहा जाता है तथा **दर्पम्**—जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य धर्म का अतिक्रम कर जाता है, अन्तःकरण के आश्रित उस दोष विशेष का नाम दर्प है [दूसरे के तिरस्कार रूप तथा गुरु एवं राजा आदि के भी अतिक्रम के हेतुभूत चित्त के दोषविशेष को दर्प कहा जाता है (मधुसूदन)।] तथा **कामम्**—स्त्री आदि भोग्य विषय का अभिलाषा को काम कहते हैं और **क्रोधम्**—किसी प्रकार का अनिष्ट होने से चित्त में जो विद्वेष भाव उत्पन्न होता है वह क्रोध है **च**—इन सब दोषों को तथा अन्यान्य महान् दोषों को [अर्थात् दूसरे के गुणों को सहन न करनारूप मात्सर्य को एवं इसी प्रकार के और भी बड़े-बड़े दोषों को (मधुसूदन)] **संश्रिताः**—वे भली भांति आश्रित (अवलम्बन) किये रहते हैं। ['ऐसे पतित होने पर भी यदि आप के (परमात्मा के) प्रति उनकी भक्ति रहे तो वे उस भक्ति से पवित्र होकर उस नरक में नहीं गिरेंगे', ऐसा यदि अर्जुन कहे तो कहते हैं उनके लिये ऐसा होना सम्भव नहीं है क्योंकि—] **आत्मपरदेहेषु**— अपने तथा दूसरे के देह में [अपने (उन आसुरी सम्पद् वालों के) और दूसरे के (उनके प्रेम के आश्रयभूत पुत्र तथा पत्नी आदि के) देह में] **माम्**—उनकी बुद्धि एवं कर्म के साक्षीरूप से विद्यमान परमप्रेमास्पदरूप मुझ ईश्वर से (भगवान् से) **प्रद्विषन्तः**—वे अत्यन्त द्वेष करते हैं अर्थात् मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके चलना ही मुझसे द्वेष करना है, वे ऐसा करने वाले हैं। [तो गुरु आदि उनका अनुशासन क्यों

नहीं करते हैं ? इस पर कहते हैं] **अभ्यसूयकाः**—वे अभ्यसूयक होते हैं अर्थात् सन्मार्ग में (वेदादि शास्त्रविहित मार्ग में) स्थित पुरुषों के गुणों को सहन न करके उनकी निन्दा करने वाले होते हैं। [वैदिक मार्ग में स्थित गुरु आदि के करुणादि गुणों का आरोप करने वाले होते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण साधनों से शून्य होकर नरक में ही गिरते हैं (मधुसूदन)]।

[मधुसूदन सरस्वती ने 'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः' की अन्य दो प्रकार से भी व्याख्यायें की हैं परन्तु उनका वास्तविक तात्पर्य वही है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्व श्लोक में उक्त अविधिपूर्वकता का ही विस्तार से वर्णन करते हैं-**अहंकारं संश्रिताः**—अहंकार आदि का अर्थात् अहंकार, बल, गर्व (घमण्ड), काम, एवं क्रोध का आश्रय लेकर वे **आत्मपरदेहेषु माम् प्रद्विषन्तः**—अपने तथा दूसरे शरीरों में भी चिन्मय अंश के स्थित मुझ परमात्मा से अत्यन्त (प्रकृष्ट रूप से) द्वेष करते हुए यजन (यज्ञादि) करते हैं। जो यज्ञ दम्भपूर्वक किया जाता है उनमें श्रद्धा का अभाव होने के कारण अपने को वृथा ही पीड़ा होती है तथा पशु आदि की भी विना शास्त्रविधि के हिंसा करने में चैतन्यस्वरूप आत्मा का द्रोहमात्र ही शेष रहता है। इसलिये यह कहा कि 'मुझसे द्वेष करते हुए यजन करते हैं' तथा वे **अभ्यसूयकाः**—आसुरी वृत्ति में रुचि रहने के कारण जो लोग वेदविहित सन् मार्ग पर चलते हैं उनके गुणों में दोषारोपण करने वाले होते हैं।

(२) **शंकरानन्द—अहंकारम्**—मैं ही कुल, शील सम्पन्न सर्वशास्त्रपारग, सर्वज्ञ, धर्मनिष्ठ तथा सर्वोत्तम हूँ, इसप्रकार जिस मनोवृत्ति से अपने आप को उत्कृष्ट माना जाता है, वह अहंकार है, उसको तथा **बलम्**—काम एवं राग से उत्पन्न हुए बल को **दर्पम्**—दृप्तता को (गर्व को) तथा **कामम् क्रोधम् च**—काम तथा क्रोध को [एवं चकार से लोभ, मोह, पारूष्य आदि बुद्धि के दोषों को] **संश्रिताः**—सम्यक् प्रकार से (भली-भाँति) आश्रय किये हुए **आत्मपरदेहेषु**—अपनी देह में तथा दूसरे की देह में स्थित **माम्**—प्रत्येक लक्षण वाले (जो सबसे पीछे द्रष्टारूप से रहता

है उस चैतन्यस्वरूप) आत्मा से **प्रद्विषन्तः**—अत्यन्त द्वेष करते हैं अर्थात् 'मैं (परमात्मा) अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में स्थित हूँ' इस बात को स्वीकार न करके मुझसे द्वेष करते हैं अथवा आत्मरूपी मेरा देहादि से भिन्नत्व, नित्यत्व, चैतन्यमात्रत्व, अकर्तृत्व एवं अभोक्तृत्व को स्वीकार न करके प्रकृष्टरूप से द्वेष करते हैं। इसलिये **अभ्यसूयकाः**—आत्मा का देह से भिन्नत्व, नित्यत्व, एकत्व, पूर्णत्व अविक्रियत्व कहने वाले सत्पुरुषों के गुणों में दोष का आरोप जो करते हैं वे ही लोक में बौद्ध सम्प्रदाय के आचार वाले असुरजन होते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—असुरलोग अपने से अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं मानते हैं। अतः भगवद्भक्त साधुजनों के प्रति भी उनका द्वेष तथा तिरस्कारबुद्धि रहती है। उनलोगों की अत्यन्त मलिनबुद्धि रहने के कारण वे कभी नहीं सोचते हैं कि जिस देह, गेह तथा धन आदि का आश्रय कर अपने अहंकार से उन्मत्त हो रहे हैं वह सब तो क्षण भर में धूलि में मिट जानेवाला है। वे अपने को ही श्रेष्ठ मानकर 'मैं ही सर्व कर्म करने में समर्थ हूँ, दूसरा कोई मेरे समान नहीं है', इसप्रकार से अहंकार का प्रचार सदा ही करते रहते हैं। शरीर तथा मनमें यथार्थबल के न रहने पर भी दूसरे का पराभव करने के लिये (दबाने के लिये) 'मैं सबसे बलवान् हूँ' इसप्रकार कह कर अपने शरीर के बल की सामर्थ्य सूचित करते रहते हैं एवं साथ ही साथ मेरे समान जगत् में और कोई दूसरा बुद्धिमान् नहीं है और होगा भी नहीं, इसप्रकार कहकर दर्प (घमण्ड) का प्रकाश करते हैं। मैं अपनी इच्छामात्र से स्त्री आदि सर्व विषयों को प्राप्त कर सकता हूँ, इस प्रकार से अपने काम (विषयभोग की वासनाओं) का भी माहात्म्य कीर्तन करते हैं। यदि उन कामों की पूर्ति में कोई बाधा उपस्थित करें तो उनके प्रतिक्रोध से युक्त होकर 'अपने सब अनिष्टकारियों को मैं टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें नष्ट कर दूँगा, मुझसे बचने की शक्ति किसी में नहीं है' इस प्रकार से अपने क्रोध को आश्रय कर अत्यन्त जघन्य हिंसादि कर्म में प्रवृत्त होते हैं। सबके हृदय में बुद्धि एवं कर्म के साक्षीरूप से एक अन्तर्यामी पुरुष विद्यमान है जो कि सबका आत्मा तथा प्रियतम है--इसबात को वे असुरजन स्वीकार नहीं करते हैं। अतः सर्व प्राणियों की हिंसा करते हुए सर्वभूतों के हृदय में स्थित सर्वात्मा मुझ से (पुरुषोत्तम भगवान् से)

प्रकृष्टरूप से द्वेष करते हैं। मेरे शरणागत भक्तों से द्वेष करना अथवा जगत् की स्थिति के लिये मेरी जो स्वतःसिद्ध वाणी वेदादि शास्त्रों में प्रकट हुई है, उस वाणी को न मानना अथवा उससे द्वेष करना और मुझसे द्वेष करना एकही बात है। केवल वे द्वेष ही नहीं करते वरन् जो वेदादि शास्त्रों के अनुसार उक्त सन्मार्ग पर चलते हैं उनको भी बहु कूट युक्तियों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं कि वेदादि शास्त्रों के मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि-मुनियोंने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये ही विधिनिषेध से लोगों के स्वतन्त्र-आचरण को रोकने के लिये चेष्टा की। अतः वे कहते हैं कि 'त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्ड-निशाचराः' अर्थात् मुनि, भण्ड तथा निशाचर इन तीनों ने एकत्रित होकर ही वेद को लिखा है। वे वेद को अपौरुषेय नहीं मानने हैं बल्कि स्वार्थ परायण भण्डप्रतारक लोगों ने इसे लिख दिया है, ऐसा प्रचार करते हैं यानी जगत् के लोगों के प्रति करुणा करके उनके मोक्ष के उपायस्वरूप जो वेदादि शास्त्र मेरे निश्वासरूप से प्रकट हुए हैं उनमें तथा जो मुनि, ऋषि एवं साधुजन उस वेदमार्ग में स्थित हैं उनके गुणों में वे प्रतारण आदि दोषों को आरोप करते हैं। इसलिये वे केवल मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले ही नहीं हैं परन्तु मेरे भक्तों के तथा मेरी वाणीरूप वेदों के गुणों में दोषारोपण करने के कारण वे 'अभ्यसूयक' भी हैं। अतः इसप्रकार के असुरजनों के उद्धार का कोई उपाय नहीं है। इसीलिये वे नीची से नीची योनियों को प्राप्त करके अशुचि घोर नरक में पतित होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है।

जो असुरजन तुमसे एवं सन्मार्ग में प्रतिष्ठित साधुओं से द्वेष करते हैं, क्या कदाचित् तुम्हारी कृपा से ही उनका निस्तार नहीं हो सकता? इस पर कहते हैं—नहीं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

अन्वय—अहम् तान् द्विषतः क्रूरान् अशुभान् नराधमान् संसारेषु आसुरीषु योनिषु एव अजस्रम् क्षिपामि।

अनुवाद—मुझसे तथा साधुजनों से द्वेष करने वाले उन क्रूर एवं निरन्तर अशुभ कर्म करने वाले अधम पुरुषों को मैं (जन्म-मृत्युरूप नरक के मार्ग में) एवं

अतिक्रूर व्याघ्रादि आसुरी योनियों में ही निरन्तर गिराता रहता हूँ [अर्थात् उन पाप कर्म करने वालों को ऐसा ही फल देता हूँ ।]

भाष्यदीपिका—अहम्–मैं सर्व देहों में अवस्थित तथा सर्वकर्मफलों का देने वाला ईश्वर **तान् द्विषतः**—उन सन्मार्ग के प्रतिपक्षी और मुझसे तथा साधुपुरुषों के साथ द्वेष करने वाले **क्रूरान् अशुभान् नराधमान्**—उन सब क्रूरस्वभाव (हिंसापरायण) अशुभकर्मकारी अर्थात् दया, सत्य, शौच आदि आचारों से शून्य एवं सदाही अमंगल आचरण करने में रत नराधमों को अर्थात् अत्यन्त निन्दित पुरूषों को **संसारेषु**—संसार में (नरकप्राप्ति के मार्ग में) **आसुरीषु योनिषु एव**—क्रूर कर्म करनेवाली व्याघ्र, सिंह आदि जो आसुरी योनियां हैं उनमें ही [‘एव’ शब्द निश्चयार्थ है] **अजस्रम्** अनवरत–बारंबार **क्षिपामि**–निक्षेप करता (फेंकता) हूँ अर्थात् गिराता हूँ क्योंकि वे पापादि दोषों से युक्त हैं । ‘क्षिपामि’ इस क्रियापद का ‘योनिषु’ के साथ सम्बन्ध है । [उन लोगों को उनकी कर्मवासनाओं के अनुसार आसुरी अर्थात् अत्यन्त क्रूर व्याघ्र, सर्पादियोनियों में डालता हूँ । मेरी (ईश्वर की) ऐसे द्रोहियों पर कृपा नहीं होती । श्रुति भी कहती है—‘अथ [य इह] कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा’ (जो दूषित आचरणवाले होते हैं शीघ्र ही कुत्सित योनियां में अर्थात् कुत्ते की योनि में, शूकर की योनि में अथवा चाण्डाल की योनि में जाते हैं ।) अतः पूर्व कर्मों के अनुसार ही फल मिलने के कारण ईश्वर में विषमता अथवा क्रूरता का दोष नहीं होता । ऐसा ही महर्षि व्यास का सूत्र (ब्रह्मसूत्र) भी है —‘वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति’ (ईश्वर में विषमता और निर्दयता के दोष नहीं है क्योंकि सृष्टि की रचना में वह जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा रखता है, ऐसा ही ‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा’ इत्यादि श्रुति भी दिखती हैं ।) इसप्रकार उनमें पाप का बीज रहने के कारण भगवान् उनसे पाप कर्म ही कराता है, कारुणिक होने पर भी पाप का नाश करनेवाले पुण्य का संचय न होने के कारण वह पापों का नाश नहीं करता, तथा योग्यता न होने के कारण पुण्य का संचय भी नहीं कराता । ईश्वर पत्थरों में जौ के अंकुर उत्पन्न नहीं कराता । यदि कहो कि ‘ईश्वर होने के कारण वह अयोग्य में भी तो योग्यता उत्पन्न कर सकता है’ तो इसका समाधान यह

है कि सत्यसंकल्प होने के कारण वह कर तो सकता है, किन्तु यह तभी सम्भव होता है जबकि वह ऐसा संकल्प करे। परन्तु ऐसा संकल्प वह करता नहीं हैं, क्योंकि आज्ञा का उल्लंघन करने वाले और अपने भक्तों के द्रोही उन दुरात्माओं पर वह अप्रसन्न रहता है। इसी से श्रुति कहती है—'एष उ ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (जिसे यह ऊपर ले जाना चाहता है उससे ही यही शुभ कर्म कराता है और जिसे यह नीचे की ओर ले जाना चाहता है उससे यही अशुभ कर्म कराता है)। जिन पुरूषों में आज्ञापालनादि भगवान् की प्रसन्नता के कारण रहते हैं उन्हीं पर वह प्रसन्न होता है, किन्तु जिनमें इससे विपरीत भाव रहता है, उनसे प्रसन्न नहीं होता। कारण होने पर ही कार्य होता है. कारण न होने पर कार्य भी नहीं होता अतः इसमें, विषमता कहाँ है? 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इस न्याय से अन्ततोगत्वा यदि उसमें कुछ विषमता का ही आरोपण किया जाय तो वह महामाया का कारण होने से दोष नहीं है (मधुसूदन)। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कहो कि ईश्वर की कृपा से वे लोग आसुर-स्वभाव का त्याग क्यों नहीं करते हैं, इसके उत्तर में कहा जायगा कि किसी की आज्ञा का पालन करने से उसकी कृपा मिलती है अन्यथा नहीं। वेदादि शास्त्रों में जिसके लिये जैसा कर्तव्यरूप से विधान किया गया है वही भगवान् की आज्ञा है अतः वेदादि शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करने पर ही (एवं इसप्रकार भगवान् की आज्ञा पालन करने पर ही) भगवान् की कृपा (प्रसाद) प्राप्त हो सकती है। परन्तु असुर-लोगों की तो सदा ही शास्त्रविरुद्ध आचरण में रति होती है। इसलिये वे सदा ही भगवत्कृपा से वंचित रहते हैं, अतः उनके उद्धार का भी कोई उपाय नहीं है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—उनके आसुर स्वभाव की निवृत्ति कभी नहीं होती, यह अब दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—**तान् अहम् द्विषतः क्रूरान् अशुभान नराधमान्**—मुझसे द्वेष करनेवाले उन कठोर स्वभाव तथा सदा ही अशुभ (पाप) करनेवाले अधम मनुष्यों को मैं **संसारेषु**—संसार से-जन्ममृत्यु के मार्ग में **आसुरीषु एव योनिषु**—वह भी आसुरी योनियों में ही अर्थात् अतिक्रूर व्याघ्रादि योनियों में ही **अजस्रम्**—अनवरत (निरन्तर अर्थात् पुनः पुनः) **क्षिपामि**—गिराता रहता हूँ। अर्थात् उन पापकर्म करनेवालो को उसी प्रकार फल देता हूँ—यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द—द्विषतः क्रूरान् अशुभान् नराधमान् तान्—** मुझसे द्वेष करने वाले अर्थात् अपने तथा दूसरों के शरीर में स्थित मुझ आत्मा से द्वेष करनेवाले एवं इसीलिए क्रूरकर्म करनेवाले [दया, सत्य, शौच और आचार से शून्य कर्म करने वाले'] अतः अशुभ (अमंगल) आचार में निरत एवं इसीलिये नराधम उन असुरों को (पूर्वोक्त आसुर सम्पद् से विशिष्ट जनों को) **संसारेषु—**संसार मार्गों में अथवा जो संसरण (भोग) किये जाते हैं वे संसार हैं अर्थात् जन्म-मरण आदि क्लेश अवश्य अनुभाव्य (भोग्य) होने के कारण उन्हें संसार कहा जाता है, उनका अनुभव (भोग) करने के लिये **आसुरीषु एव योनिषु** —आसुरी (अति क्रूर कुत्ता, सूकर, सर्प, व्याघ्र आदि) योनियों मे ही **अजस्रम् क्षिपामि—**अनवरत (बार-बार) गिराता रहता हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि मैं (ईश्वर) अपनी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले जनोंको उनके कर्मानुसार हां कुत्ता आदि योनियों को उन्हें बारम्बार प्राप्त कराता हूँ।

(३) **नारायणी टीका—**पूर्वोक्त दोषयुक्त आसुर लोगों के स्वभाव की निवृत्ति कभी नहीं होती, अतः सर्वहृदय में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा से वे सदा ही **द्वेष—**करते हैं अर्थात् मेरी आज्ञा का उल्लंघन सदा ही करते हैं। वेदादि शास्त्रों में जिन कर्मों का कर्तव्य तथा अकर्तव्यरूप से मैंने विधान किया है वही मेरी आज्ञा है। उन शास्त्रों के विधानानुसार कर्मानुष्ठान में जो पराङ्मुख हैं वे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण मुझसे भी विमुख रहते हैं। इसप्रकार से विमुख होना ही मुझसे द्वेष करना है। जो अन्तरात्मा का तिरस्कार करते हैं उनके लिये देहादि में आत्मबुद्धि का त्याग करना असम्भव है। अतः वे देहादि की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर देहादि के प्रयोजन की सिद्धि के लिये दूसरे को बलिदान करने के लिये सदा ही प्रस्तुत रहते हैं अर्थात् वे **क्रूर—**होते हैं यानी दूसरों की हिंसा करने में तत्पर रहते हैं। इसप्रकार क्रूरकर्मा पुरुष से कभी शुभ कर्मों का अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है, अतः वे सदा ही **अशुभ—**(पाप) कर्म में रत रहने के कारण **नराधम—**(मनुष्यों के अन्दर अति निन्दित) हो जाते हैं। इसप्रकार उत्तरोत्तर उनकी आसुरीवृत्ति की वृद्धि होती है। मैं (परमात्मा) सर्वभूतों में ही समभाव से स्थित हूँ एवं न तो मेरा कोई द्वेष्य है और न प्रिय है (गीता ९।२९)। जैसे कि भूमि में जिसप्रकार का बीज बो दिया जाता है,

उसीप्रकार का फल प्राप्त होता है; जमीन का तो किसी बीज के प्रति न राग है न द्वेष है, वैसे ही चैतन्यस्वरूप मुझ आत्मा को अधिष्ठान करके सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मों के बीज बो रहे हैं एवं तत्-तत् कर्म तथा वासना के अनुसार फल प्राप्त करते हैं, इसमें मेरी विषमता या निष्ठुरता का कोई प्रश्न ही नहीं है। मेरे विधानानुसार ही समस्त प्राणी शुभ कर्मों के फलस्वरूप शुभ योनि तथा अशुभ कर्मों के फलरूप से अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु कर्म जड़ हैं, इसलिये चेतन की सन्निधि के बिना वे फल प्रसव नहीं कर सकते हैं। अतः चैतन्यस्वरूप मुझ परमात्मा को ही सर्वफलदाता ईश्वर कहा जाता है एवं मैं भी आसुरजनों को उनके क्रूर (घोर–निष्ठुर) तथा अशुभ (पाप) कर्मों के अनुसार उनको आसुरी योनि में ही अर्थात् जिसमें हिंसा एवं पाप की वृत्तियाँ अति प्रबलरूप से प्रकट होती है उन निष्ठुर व्याघ्र, सर्पादि योनियों में निरन्तर (पुनः पुनः) गिराता रहता हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रविधि का उल्लंघन करके जो लोग अपनी प्रवृत्ति के वश दम्भ, अहंकार इत्यादि आसुरी सम्पद् से युक्त होकर चलते हैं वे मेरे अनुशासनरूप वेदादि शास्त्रों का उल्लंघन करके मेरी कृपा से सदा ही वंचित रहते हैं तथा वे अपने अत्यन्त पापमय कर्मों के द्वारा नीचे से नीचे ही गिरते रहते हैं। मैं उदासीनरूप से इन सब कर्मों की गति का द्रष्टा-मात्र हूँ तथापि मेरे द्वारा निर्दिष्ट नियम से ही इस प्रकार से गति होती है इसलिये उपचार से मैं उनको गिराता रहता हूँ, ऐसा कहा जाता है।

किन्तु क्रमशः अनेक जन्मों के पश्चात् उनका भी कल्याण हो ही जायगा ? इस पर कहते हैं–नहीं,

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! आसुरीम् योनिम् आपन्नाः मूढाः जन्मनि जन्मनि माम् अप्राप्य एव ततः अधमाम् गतिम् यान्ति।

अनुवाद—हे कुन्तिनन्दन ! वे मूढ़जन (अविवेकीजन) जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर अधम गति को ही प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय-हे कुन्तिपुत्र अर्जुन ! [तुम मेरे परमभक्त कुन्ति के पुत्र हो एवं दैवीसम्पद् से सम्पन्न हो, अतः असुरजनों के समान तुम्हारे लिये अधोगति की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है—यही कहने का अभिप्राय है ।] **आसुरीम् योनिम् आपन्नाः**—जो किसी समय आसुरी योनि को प्राप्त हो गये हैं वे **जन्मनि जन्मनि**—जन्म जन्म में यानी प्रत्येक जन्म में **मूढाः**—मूढ़ (विवेकशून्य) रहकर अर्थात् अनात्म देहादि से आत्मा का विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ रहकर प्रत्येक जन्म में जिनमें तमोगुण की बहुलता है ऐसी योनियों में जन्म लेते हुए **माम् अप्राप्य एव**—मुझ परमात्मा को प्राप्त न होकर ही [कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे द्वारा कहे हुए वेदविहित श्रेष्ठ मार्ग को भी न पाकर, क्योंकि मेरी प्राप्ति की उनके लिये तो किसी प्रकार से सम्भावना नहीं है । यहाँ 'एव' शब्द निश्चय अर्थ में है अर्थात् तिर्यग् एवं स्थावर आदि योनियों मे वेदमार्ग प्राप्ति की किसीप्रकार सम्भावना नहीं है, यह सूचित किया गया है ।] **ततः अधमाम् गतिम् यान्ति**—उन पूर्व प्राप्त योनियों की अपेक्षा भी अधिक अधम (निकृष्ट) गति को प्राप्त होते हैं । [जो एक बार आसुरी योनि में पड़ जाते हैं उन्हें उत्तरोत्तर निकृष्टतर और निकृष्टतम योनियाँ मिलती रहती हैं । अत्यन्त तमः प्रधान होने के कारण उनमें उनके प्रतीकार की सामर्थ्य नहीं रहती । अतः जब तक मनुष्यदेह प्राप्त है तभी तक कल्याण कामियों को महान् प्रयत्न से भी अत्यन्त कष्टमयी आसुरी सम्पद् के त्याग के लिये बड़ी तेजी से यथाशक्ति दैवीसम्पद् का आचरण करना चाहिए; नहीं तो तिर्यगादि देह प्राप्त होने पर वैदिकमार्ग के अनुसार साधनों के अनुष्ठान की योग्यता न रहने से कभी निस्तार नही होगा एवं और महान् संकट आ पड़ेगा—यह इसका मिलाकर किया हुआ अर्थ है । ऐसा कहा भी है—

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥

अर्थात् जो पुरुष यहीं पर नरकरूप रोग की चिकित्सा नहीं करता वह रोग सहित औषधहीन स्थान में जाकर क्या कर लेगा ! (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी (१)—श्रीधर—हे कौन्तेय—हे कुन्तिपुत्र **मूढः आसुरीम् योनिम्**

आपन्नाः जन्मनि जन्मनि—वे मूढ़ जन्म-जन्म में आसुरी योनियों को प्राप्त होते हुए **माम् अप्राप्य एव**—मुझे न पाकर ही [यहाँ 'एव' शब्द का 'हि' अर्थात् निश्चय के अर्थ में प्रयोग हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि उनको मेरी प्राप्ति होने की तो शंका ही कैसे हो सकती है मेरी प्राप्ति का उपायरूप जो वेदविहित सन्मार्ग है, उसको भी न पाकर ही] ततः—उस पहले जन्म से भी **अधमाम् गतिम् यान्ति**—अधम (निकृष्टतम) कीट आदि योनियों को प्राप्त होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—यदि वे कुत्ता आदि योनियों में प्रविष्ट हैं तथापि उनका बहुजन्मों के पश्चात् मोक्ष हो ही जायगा, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं कि 'इमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेति' (ये क्षुद्र बार बार लौटने वाले भूत होते हैं, जन्म लो, मरो) इस श्रुति-वाक्य से यही प्रमाणित होता है कि जो लोग वेद के विरुद्ध आचार में निरत रहते हैं, उन पापिष्ठों की बारबार जन्म तथा मरण के सिवाय अन्य कोई गति नहीं है अर्थात् उन्हें कभी भी मेरी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है यही अब कहते हैं—

मूढाः—अनेक चित्त विभ्रान्त काम भोग प्रसक्त अशुचिवृत्त वाले मूढ (अविवेकी) अपने अतिशय दोषों से ही **जन्मनि जन्मनि**—प्रत्येक जन्म में **आसुरीम् योनिम् आपन्नाः**—आसुरी योनि को ही प्राप्त करने वाले होते हैं। अतः **माम् अप्राप्य एव**—मुझ को प्राप्त न होकर ही [यहां 'माम्' (मुझे) इस शब्द से अपनी प्राप्ति के साधन को सूचित किया गया है अर्थात् मुझको (मेरी प्राप्ति करने के योग्य मानव देह को) न प्राप्त करके ही] ततः—उससे भी अर्थात् आसुरी योनि की अपेक्षा से भी **अधमाम् गतिम् यान्ति**—अधम (निकृष्ट) वृक्ष, पाषाणादिरूप अथवा पिशाच आदि की गति को (देह को) प्राप्त होते हैं। [जो प्राप्त की जाती है वह गति है। एक जन्म के पश्चात् दूसरे जन्म में तनु को (देह को) ही प्राप्त होते हैं। इसलिये तनु (देह) को ही गति कहते हैं।] अर्थात् पहले कुत्ता आदि जिन योनियों को प्राप्त हुए थे, उनको भी फिर प्राप्त नहीं होते अर्थात् उससे भी और निष्कृष्टतर योनि को प्राप्त होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है। 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुः' (प्रवृत्ति और निवृत्ति आसुरजन नहीं जानते) यहां से आरम्भ करके 'ततो

यान्त्यधमां गतिम्' (उससे भी अधमगति को प्राप्त होते हैं) यहाँ तक रज और तमरूप दोषों से दूषित अन्तःकरण वाले आसुरों की जो सम्पद् है, उनके फलरूप से वे अधः से अधः (नीचे से नीचे) गिरते हैं, अतः कभी भी उनको श्रेय की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष (जो अनात्म असत्य देहादि से सत्य आत्मा को पृथक् करने में समर्थ है ऐसा विवेकी पुरुष) अपने पुरुषार्थ की सिद्धि (सफलता) के लिये स्वयं विवेक का नाश करने वाली आसुरी योनि को प्राप्त होने से पहले ही आसुरीसम्पद् के विषय (वशीभूत) न होकर सदा सत् असत् के विवेक तथा वैराग्य के द्वारा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये यत्न करे यही सूचित किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि आसुरीसम्पद् बन्धन का ही हेतु है—मोक्ष का कभी नहीं।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि जो भगवान् से तथा सन्मार्ग में स्थित साधु पुरुषों से द्वेष करते हैं तथा हिंसापरायण एवं पापकर्म में रत रहते हैं ऐसे नराधमों को उनके अपने अपने कर्म तथा वासना के अनुसार आसुरी योनियों में ही (अत्यन्त क्रूर प्रकृति से सम्पन्न व्याघ्र, सर्पादि योनियों में ही) बार बार भगवान् गिराता है। प्रश्न होगा कि एक बार आसुरी योनि की प्राप्ति होने पर उनकी क्या गति होती है? उसे अब स्पष्ट करते हैं। मनुष्य जब सद् असद् विचार बुद्धि से हीन हो जाता है तब वह ऐसा **मूढ**—(अज्ञान से आवृत) होता है कि जीवन का परम उद्देश्य परमानन्दस्वरूप भगवान् की प्राप्ति ही है एवं उसके बिना दुःखमय संसार चक्र से निस्तार का कोई दूसरा मार्ग नहीं है, यह धारण करने में समर्थ नहीं होता है। अतः भगवान् को स्वीकार करना अथवा उनकी शरण लेना अनावश्यक समझ कर देहादि में आत्मबुद्धि ऐसी दृढ़ कर लेता है कि केवल देहादि के भोग एवं वासना की तृप्ति के लिये ही रातदिन व्यस्त रहता है। इसलिये अनेक प्रकार से वासना जाल में विभ्रान्त होकर एवं विषयभोग में ही आसक्त रहने के कारण दूसरों के प्रति हिंसा, द्वेष आदि में रत रहते हुए वह अपने कर्म दोष से एक बार आसुरी योनि को प्राप्त करने पर जन्म जन्म में वह आसुरी योनि को ही प्राप्त होता चलता है क्योंकि प्रतिजन्म उसके तमोगुण का संस्कार प्रबल से प्रबलतर होता रहता है। अतः मुझको न प्राप्त होकर ही [अर्थात् मुझको प्राप्त करना तो दूर की बात है—मेरी

प्राप्ति करने के योग्य जो मानव देह है एवं जिससे वेदमार्ग का अनुसरण करके तत्त्वज्ञान के द्वारा मुझको प्राप्त हो सकता है उस देह को न प्राप्त कर ही] पहले जिस आसुरी योनि व्याघ्र, सर्प आदि को प्राप्त हुआ था उसकी अपेक्षा भी और अधम (निकृष्टतर) वृक्षादिरूप अथवा पैशाची गति को (देह को) प्राप्त होता है। अतः जब आसुरी सम्पत्ति के फलरूप से नीचे से नीचे गिरने के सिवाय कभी भी श्रेय की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है तो सद् असद् के विवेक से सम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष को मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये (अर्थात् दैवीसम्पद् से सम्पन्न होने के लिये) सर्वप्रकार से प्रयत्न करना आवश्यक है, क्योंकि आसुरी वृत्ति का आश्रय लेने पर व्याघ्र, सर्पादि तमोबहुल योनियों में एवं उनसे भी निकृष्टतर तिर्यग् आदि योनियों में भी भ्रमण करना पड़ेगा अतः उस प्रकार महासंकट में गिरने के पहले ही प्रत्येक मनुष्य को सावधान होना आवश्यक है। मनुष्य यदि दम्भ, दर्प इत्यादि आसुरी सम्पद् लेकर जन्म ग्रहण करे एवं उसके कारण अति दुराचारी भी हो तो भी यदि सत्संग, सत्शास्त्र का अध्ययन एवं प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा (अथवा अन्य किसी प्रकार से) अपने को उद्धार करने के लिये दृढ़संकल्प होकर भगवान् की शरण ले तो वह भी भगवान् की कृपा से क्रमशः चित्तशुद्धि, तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर संसाररूप सर्व दुःख से मुक्त हो सकता है, यह भगवान् ने स्वयं प्रतिज्ञा करके कहा है (गीता ९।३०-३२) श्लोक में अर्जुन दैवी-सम्पद् से सम्पन्न है तथा भगवान् की परमभक्त कुन्ती का पुत्र है अतः उसकी उक्त प्रकार की अधोगति की कोई संभावना नहीं है, ऐसा आश्वासन देने के लिये ही 'कौन्तेय' कह कर भगवान् ने उसे सम्बोधित किया।

अब यहाँ समस्त आसुरीसम्पद् का संक्षेप से वर्णन किया जाता है। आसुरी-सम्पद् के अनन्त भेद होने पर भी जिन कामादि तीन भेदों में सबका अन्तर्भाव है एवं जिन तीनों का परिहार (त्याग) होने पर सब दोषों का परिहार (त्याग) हो जाता है अर्थात् जो सब अंनर्थों के मूल कारण हैं उनका वर्णन किया जाता है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

अन्वय—कामः क्रोधः तथा लोभः इदम् त्रिविधम् नरकस्य द्वारम (अतः एव) आत्मनः नाशनम्, तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत् ।

अनुवाद—काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के दोष नरक की प्राप्ति के द्वार हैं, अतः आत्मा का नाश करनेवाले भी हैं। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

भाष्यदीपिका—**कामः क्रोधः तथा लोभः**—काम, क्रोध तथा लोभ जिनकी कि पहले व्याख्या की जा चुकी है **इदम् त्रिविधम्**—ये तीन प्रकार के दोष **नरकस्य द्वारम्**—नरक प्राप्ति के द्वार (साधन) हैं। [ये सारी आसुरी सम्पद् के मूल हैं] एवं **आत्मनः नाशनम्**—आत्मा के नाश करने वाले हैं। इनमें प्रवेश करने मात्र से ही आत्मा नष्ट हो जाता है अर्थात् किसी पुरुषार्थ के योग्य नहीं रह जाता है, इसलिये ये तीनों आत्मा का नाश करनेवाले द्वार (साधन) कहलाते हैं [क्योंकि सब प्रकार के पुरुषार्थ के सम्पादन की अयोग्यता के द्वारा ये तीनों अत्यन्त अधमयोनि की प्राप्ति कराने वाले हैं (मधुसूदन)]। जिस कारण से काम, क्रोध तथा लोभ नरक-प्राप्ति के द्वार एवं आत्मा के नाशक होने के कारण समस्त अनर्थ के हेतु होते हैं **तस्मात्**—उसी कारण से **एतत् त्रयम् त्यजेत्**—इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इन तीनों के त्याग करने से ही सारी आसुरी सम्पद् का त्याग हो जायगा। [उत्पन्न हुए काम, क्रोध तथा लोभ के कार्य को विवेक द्वारा रोक देना ही इन तीनों का त्याग है। इसके पश्चात् इनकी पुनः उत्पत्ति ही न हो, इस विषय पर सावधान रहना चाहिए यही 'त्यजेत्' शब्द का तात्पर्य है (मधुसूदन)।] ऐसा कहकर त्याग की स्तुति की गई है, ऐसा समझना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—पूर्वोक्त असुरों के दोषों में से सम्पूर्ण दोषों के मूलस्वरूप तीन दोष सर्वप्रकार से ही त्याग करने के योग्य हैं—यह कहते हैं-**त्रिविधम् नरकस्य द्वारम् इदम् त्यजेत्**-काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीन प्रकार के दोष नरक के

द्वार हैं। इसीलिये ये आत्मा का नाश करनेवाले हैं क्योंकि वे आत्मा (जीवात्मा) को नीच योनियों की प्राप्ति कराते हैं। अतः इन तीनों का सर्व प्रकार से त्याग कर देना चाहिए।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित आसुरीसम्पद् का सर्वस्व काम, क्रोध, लोभ इन तीनों दोषों में ही पर्यवसित (समाप्त) होता है। अतः जिस प्रकार प्रधान मल्ल के पछाड़ने के पश्चात् अन्यान्य सब मल्ल ही पराजित हो जाते हैं, उसी प्रकार इन तीनों को त्याग देने पर समस्त आसुरी सम्पद् त्यक्त हो जाती है। इसलिये मुमुक्षु को इन तीनों का अवश्य ही त्याग करना चाहिए क्योंकि जो इनका त्याग कर स्वधर्म से श्रेय के (मोक्ष के) साधन का अनुष्ठान करते हैं उन पुरुषों का परमपुरुषार्थ सिद्ध होता है, यही अब प्रतिपादित करते हैं—**नरकस्य कामः क्रोधः लोभः इति त्रिविधम् द्वारम्**—उत्कृष्ट जन्मवाले नरों का जहाँ निरतिशय अक अर्थात् दुःख होता है वह नरक है। कुत्ता, सूकर आदि नीच योनियाँ ही नरक हैं। ['नरक' शब्द शकन्ध्वादिका का रूप है।] उस कुत्ता आदि निकृष्ट योनिरूप नरक की प्राप्ति का द्वार (प्रवेशमार्ग) है काम, क्रोध, लोभ—ये तीनप्रकार का दोष। अन्य जो आसुरी सम्पद् हैं वे इसप्रकार का (विशेष) द्वार नहीं हैं। अब प्रश्न होगा कि कामादि नीच योनि की प्राप्ति का द्वार भले ही हो परन्तु इससे हमारी क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—**आत्मनः नाशनम्**—पूर्व जन्मों में किये गये अनेक पुण्यों के अतिशय से मनुष्यत्व, पुरुषत्व, ब्राह्मणत्व, वेदाध्ययनत्व, विवेकत्व से विशिष्ट होकर मोक्ष के महलपर आरूढ़ हुए आत्मा के (अपने स्वरूप के ज्ञान के अधिकारी मुमुक्षु के) काम आदि ये तीनों दोष पुरुषार्थ के नाशक हैं अर्थात् धर्म और अधर्म, कर्तव्य तथा अकर्तव्य, अर्थ एवं अनर्थ, बन्ध एवं मोक्ष के विवेक-विज्ञान का नाश करते हैं। काम से व्याकुल, क्रोध से आविष्ट अथवा लोभरूप ग्रह से ग्रस्त पुरुष को धर्माधर्म ज्ञान का विवेक नहीं होता एवं उसका अभाव होने पर पुरुष नष्ट ही हो जाता है। अतः मनुष्यत्वादि रूप उत्कृष्ट मोक्ष के साधन की सम्पत्ति से सम्पन्न होकर मोक्ष के प्रासाद (महल) पर चढ़ा हुआ पुरुष भी प्रमाद से तालवृक्ष पर आरूढ़ के समान काम आदि के द्वारा नीचे गिराया जाता हुआ निश्शेष (नष्ट) हो जाता है। ऊंचे से गिरे

पुरुष का स्वरूप के नाश के सिवाय कुछ शेष नहीं रहता, यही 'नाशनम् आत्मनः' पद का तात्पर्य है जिस कारण से कि कामादि का ऐसा प्रभाव है **तस्मात्**—इसलिये विवेकसम्पन्न मुमुक्षु अपने स्वभाव को जानकर अपना नाश न हो सके इसलिये चाण्डाल के समान काम को, काले सर्प के समान क्रोध को और मल (विष्ठा) के समान लोभ को **एतत् त्रयम् त्यजेत्**—इन तीनों को दूर से त्याग दे अर्थात् इनका विषय (वशीभूत) न होवे, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—आसुरी सम्पद् ही जीव की अधोगति का (अशुचि नरक में गमन का) कारण है, यह पूर्ववर्ती श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। आसुरी-सम्पद् का भेद अनन्त है, इसलिये एक-एक करके आसुरीसम्पद् का परिहार करना एक मनुष्यजीवन में असम्भव है। इसीलिये भगवान् ने समस्त जीवों के प्रति कृपा करने के लिये अर्जुन को लक्ष्य करके कहा कि समस्त आसुरीसम्पद् काम, क्रोध तथा लोभ, इन तीनों दोषों के अन्तर्भूत है अर्थात् समस्त आसुरी वृत्तियों के मूलभूत काम, क्रोध तथा लोभ का परिहार करने पर जीव समस्त आसुरी सम्पद् से विमुक्त हो सकता है। जिस कारण से ये तीनों दोष सभी आसुरी वृत्तियों के मूल हैं, उसी कारण से ये पूर्वोक्त नरकगति के द्वार अर्थात् साधन भी हैं। केवल यही नहीं वरन् काम, क्रोध तथा लोभ के वशीभूत रहने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों प्रकार के पुरुषार्थों में से किसी की भी सिद्धि सम्भव नहीं होती है। अतः ये सर्वप्रकार से अनर्थ के कारण तथा उत्तरोत्तर अधम से अधम योनि को प्राप्त कराने वाले होने के कारण आत्मा के नाशक होते हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करने के लिये (तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के द्वारा संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिये) जो विवेकज्ञान तथा चित्तवृत्ति के निरोध की आवश्यकता है, उस विवेकज्ञान तथा सात्त्विकीवृत्ति के नाश करनेवाले होते हैं। इन तीनों में भी काम (विषय-वासना) ही प्रधान है। जहाँ काम है वहाँ लोभ भी अवश्य ही रहेगा एवं उनकी पूर्ति के मार्ग में किसी प्रतिबन्धक के उपस्थित होने पर क्रोध भी प्रकट हो जायगा। इसलिये ही श्रीभगवान् पहले ही कह चुके हैं कि काम ही समस्त पापों का मूल है एवं काम ही एकमात्र दुर्जय शत्रु है जिसको कि पराजित करने पर मनुष्य परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि प्राप्त करके कृतकृत्य हो सकता है (गीता ३।४३

३।३६)। जिस कारण से काम तथा उससे उत्पन्न हुए लोभ एवं क्रोध का ऐसा प्रभाव है इसलिये सभी कल्याणकामी तथा विवेकसम्पन्न मनुष्यों को उनसे अपनी आत्मा के नाश होने के पहले ही सत्संग एवं अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा इन तीनों का अत्यन्त विषधर सर्प के समान सर्व प्रयत्नों से दूर से ही त्याग देना उचित है।

काम, क्रोध, लोभ इन तीनों का त्याग करनेवालों को क्या विशेष फल प्राप्त होता है ? इस पर कहते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! तमोद्वारैः एतैः त्रिभिः विमुक्तः नरः आत्मनः श्रेयः आचरति, ततः पराम् गतिम् याति ।

अनुवाद—हे कुन्तिनन्दन ! नरक के द्वारभूत इन तीनों से मुक्त हुआ पुरुष अपने श्रेय (कल्याण) का आचरण करता है अर्थात् वेदविहित आचरण का अनुष्ठान करता है एवं उसके द्वारा परमगति को (मोक्ष) प्राप्त होता है।

भाष्यदीपिका—**हे कौन्तेय**—हे कुन्तिपुत्र अर्जुन ! [तुम्हारी माता कुन्ति सारे जीवनभर दुःख-कष्ट सहन करते हुए भी अपने श्रेय (कल्याण) के मार्ग से कभी च्युत नहीं हुई। तुम उसी कुन्ति के पुत्र हो, अतः तुम भी जीवन के श्रेय (हित) का जो साधन है, उसका आचरण करके तत्त्वज्ञान के द्वारा परागति (मोक्ष) लाभ करने में समर्थ होओगे, ऐसा मेरा विश्वास है—यही 'कौन्तेय' शब्द से अर्जुन को सम्बोधित करने का तात्पर्य है।] **तमोद्वारैः**—तमः यानी तममय (दुःख और मोहरूप अन्धकारमय) नरक के द्वारस्वरूप **एतैः त्रिभिः विमुक्तः नरः**—इन तीनों (काम, क्रोध, लोभ इन तीनों) अवगुणों से विशेषभाव से (सम्पूर्णतया) मुक्त (छूटा) हुआ (सुकृतिशाली) मनुष्य **आत्मनः श्रेयः आचरति**—आत्मकल्याण के साधन का आचरण करता है अर्थात् जिससे परमपुरुषार्थ की सिद्धि हो सके उस श्रेय के साधन (वेदविहित यज्ञ, दान तथा तपः प्रभृति) का आचरण (अनुष्ठान) करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पहले जिन कामादि के वश में होने से वह कल्याण का

आचरण नहीं कर पाता था परन्तु अब उन कामादि के नाश हो जाने पर अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि प्रतिबन्धों से रहित होने पर वह मुमुक्षु अश्रेय (अकल्याण)का आचरण नहीं करता है वरन् श्रेय का ही आचरण करता है अर्थात् वेदविहित साधनों का ही अनुष्ठान करता है एवं उस पुण्य कर्म के फल से वह केवल लौकिक सुख का ही अनुभव नहीं करता है बल्कि **ततः पराम् गतिम् याति**—उस साधन से वह क्रमशः चित्तशुद्धि तथा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होकर परमगति (मोक्ष) को भी प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—कामादि का त्याग करने से विशेष फल क्या होता है! उसे बताते हैं-**एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः**—तम अर्थात् नरक के द्वाररूप इन काम आदि तीनों दोषों से मुक्त हुआ मनुष्य **आत्मनः श्रेयः आचरति**—आत्मा के कल्याण के साधनरूप तप, योगादि कर्मों का आचरण (अनुष्ठान) करता है **ततः पराम् गतिम् याति**—उससे परागति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार कामादि अधर्म में प्रवृत्ति के कारण होने से ये नरक के द्वार है और मुमुक्षु के लिये त्याज्य हैं। ऐसा प्रतिपादन करके इनसे जो पुरुष विमुक्त हुआ है वह श्रेय (मोक्ष) के साधनों में निष्ठावान् होकर श्रेय प्राप्त कर लेता है, ऐसा कहते हैं—**नरः**—मुमुक्षु अर्थात् अधिकारी ब्राह्मण आदि विद्वान् **एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः**—तमः (नरक) के द्वारभूत इन तीनों काम, क्रोध एवं लोभ से **विमुक्तः**—विशेषरूप से (पूर्णतया) मुक्त होकर **आत्मनः श्रेयः**—अपने श्रेय के साधन का (अपने अधिकार के अनुसार आश्रमोचित वैदिक धर्म का अथवा श्रवण मननादि का) जिस समय **आचरति**—आचरण करता है (सम्यक्प्रकार से अनुष्ठान करता है) तो **ततः**—उसी अनुष्ठान से चित्तशुद्धि को प्राप्त कर तत्पश्चात् उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से **पराम् गतिम्**—विदेह मुक्ति को **याति**—जाता है अर्थात् प्राप्त करता है।

(३) नारायणी टीका—काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीनों जिस पुरुष में रहते हैं उसकी स्वतः ही अधर्म (निषिद्ध कर्म) में प्रवृत्ति होती है एवं उस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह नानाप्रकार के अनर्थकर कर्मों का अनुष्ठान करके नरक की ओर अग्रसर

होता है। इसलिये इन तीनों को 'तमोद्वार' (नरक के द्वार) कहा गया है अर्थात् इन तीनों से युक्त हुआ पुरुष पुनः पुनः अति अधम योनि में भ्रमण करके नानाप्रकारके दुःखों का भोग करता है। यदि कोई भाग्यवान् पुरुष सत्संग, गुरुकृपा तथा शास्त्र कृपा के द्वारा इन तीनों को महाशत्रु मानकर निरन्तर इन तीनों वृत्तियों तथा इनके कार्यों को भगवान् में आहुतिरूप से समर्पण करते हुए इनसे मुक्त होने के लिये भगवान् की कृपाभिक्षा करे एवं 'किसी प्रकार से इनके वशीभूत नहीं होंगे' इस-प्रकार के दृढ़ मनोबल से दन्त से दन्त का घर्षण करके इन तीनों के वेग को सहन करले तो भगवान् की कृपा से इन तीनों दुर्जय शत्रुओं से विमुक्त अर्थात् विशेषरूप से मुक्त हो सकता है अथवा पुनः पुनः महापुरुषों के सत्संग के द्वारा यदि समस्त जागतिक वस्तुओं के मिथ्यात्व का निश्चय कर सके तो मिथ्यावस्तु के लिये किसीप्रकार से काम (वासना) का सम्भव न होने के कारण वह काम से तथा काम से उत्पन्न हुए लोभ एवं क्रोध से भी विमुक्त (पूर्णतया मुक्त) हो सकता है। अतः इसप्रकार से कामादि से विमुक्त हुए पुरुष की स्वतः ही आत्मा के (अपने) श्रेय के (परम कल्याण के) अर्थात् मोक्ष के आचरण में (साधन में) प्रवृत्ति होती है अर्थात् उसकी वेदादि शास्त्रविहित कर्मों में रुचि एवं वेदान्त वाक्यादि के श्रवण तथा मनन में निष्ठा उत्पन्न होती है एवं उस निष्ठा से ही चित्तशुद्धि तथा विवेकज्ञान की प्राप्ति करता है। तत्पश्चात् वह निदिध्यासन के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके परमगति (ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व-अनुभवरूप मोक्ष) को प्राप्त करता है।

कौन श्रेय (मोक्ष) का आचरण है और कौन अश्रेय का आचरण है? इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि शास्त्र से ही उनका ज्ञान हो सकता है, इसलिये भगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

अन्वय—यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य कामकारतः वर्तते, सः सिद्धिम् न अवाप्नोति न सुखम् न पराम् गतिम् (अवाप्नोति)।

अनुवाद—जो पुरुष शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छानुसार आचरण करता है वह न तो सिद्धि (पुरुषार्थ की योग्यता) को प्राप्त करता है और न इस लोक में सुख तथा न परमगति (स्वर्ग या मोक्ष) को ही पाता है।

भाष्यदीपिका—यः—जो मनुष्य **शास्त्रविधिम् उत्सृज्य**—शास्त्र के विधान को अर्थात् कर्तव्य अकर्तव्य के ज्ञान के हेतुरूप से जो शास्त्रों से उपदिष्ट विधि निषेध बोधक वाक्य हैं, उनको (अश्रद्धा से) त्यागकर **कामकारतः वर्तते**—कामना से प्रयुक्त हुआ वर्तता है। [स्वेच्छामात्र से वर्तता है अर्थात् विहित का भी आचरण नहीं करता है और निषिद्ध का ही आचरण नहीं छोड़ता है, वह कर्म करने पर भी] **सः सिद्धिम् न आप्नोति**—वह न तो सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ की योग्यता को [पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण की शुद्धि को (मधुसूदन)] **न सुखम्**—न इस लोक में सुख [उपशम यानी वैराग्यजनित शान्ति (श्रीधर)] पाता है और **न पराम् गतिम्**—न परमगति (मोक्ष) को ही पाता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—शास्त्रविहित स्वधर्माचरण के बिना काम, क्रोधादि का त्याग भी नहीं होता है यह कहते हैं—**यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य कामकारतः वर्तते**—जो शास्त्रविधि (वेदविहित) धर्म का त्याग कर अपनी इच्छानुसार वर्तता (आचरण करता) है **सः सिद्धिम् न अवाप्नोति न सुखम् न पराम् गतिम्**—वह तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि को नहीं प्राप्त होता है तथा उपशम (शान्ति) रूप सुख को और परमगति (मुक्ति) को भी नहीं पाता है।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार दम्भ, दर्प, अभिमान आदि आसुरी-सम्पत्-सम्पन्न जो पुरुष वेदशास्त्र की विधि का उल्लंघन करके उनमें विहित हुए धर्माधर्म के विचार से शून्य होकर उनके फल को देने वाले ईश्वर का भी अनादर करता है, वह यथेष्ट (अपनी इच्छानुसार) काम-भोगों में एवं परधन-हरण आदि में प्रवृत्त होता है। अतः इसप्रकार के पापिष्ठ पुनरारोह से (पुनरुत्थान से) रहित होकर नीच योनि में पतित होता है, ऐसा प्रतिपादन करके अपनी (भगवान् की) आज्ञा का कोई उल्लंघन न करे, इसलिये फिर भी जो इस प्रकार से कर्म में प्रवृत्त होता है वह भी अधोलोक को ही प्राप्त होता है, मुक्ति की वार्ता को स्वप्न में भी नहीं पाता है। इस अर्थ को ही अब

दृढ़ करते हैं—**यः**—जो वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से सम्पन्न ब्राह्मण आदि अधिकारी पुरुष **शास्त्रविधिम् उत्सृज्य**—'विधीयते अपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति विधिः' (जिससे विधान किया जाता है—अपूर्व अर्थ बताया जाता है, वह विधि है।) तथा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नीषोमीय पशु आलभन करे), 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (कलंज न खाय), इस प्रकार कर्तव्य तथा अकर्तव्य के अर्थ की प्रकाशक शास्त्रविधि का अर्थात् 'यह करना उचित है, यह नहीं करना उचित है' इसप्रकार विधिनिषेध का त्याग कर (विचार न कर अर्थात् शास्त्रविधि की उपेक्षा कर) **कामकारतः वर्तते**—कामना से स्वेच्छानुसार वर्तता है (व्यवहार करता है) अर्थात् शास्त्रनियम का उल्लंघन करके स्वेच्छानुसार श्रद्धारहित होकर जो कर्म का अनुष्ठान करता है **सः**—वह अर्थात् जिसकी सारी प्रवृत्ति काम के अधीन हैं वह पुरुष **सिद्धिम् न अवाप्नोति**—सिद्धि को (अर्थात् विधिरहित किये गये उन कर्मों से चित्तशुद्धि को) नहीं प्राप्त होता क्योंकि शास्त्रविधि से किये हुए कर्मों का ही अवश्य फल होता है, ऐसा नियम है। इसलिये **न सुखम्**—वह स्वर्गीय सुख को भी नहीं प्राप्त करता है और **न पराम् गतिम्**—सकाम कर्म मुक्ति का साधन नहीं है, इसलिये वह कर्म परमगति (मोक्ष) को भी नहीं प्राप्त करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यथेच्छा से आचरण करने वाला तथा शास्त्रविधि को उल्लंघन करके कर्म करने वाला पुरुष स्वर्ग एवं अपवर्ग दोनों से ही भ्रष्ट हो जाता है।

नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा कि काम, क्रोध तथा लोभ, इन तीनों नरक के द्वारों से विमुक्त होने पर ही मनुष्य वेदविहित कर्म तप, योग इत्यादि कल्याणमार्ग के साधनों का अनुष्ठान करके परागति यानी मोक्षको प्राप्त कर सकता है। अब प्रश्न होगा कि सभी प्राणी काम से प्रेरित होकर ही (कामकारतः ही) कर्म करते हैं। अतः जहाँ काम (वासना) नहीं है वहाँ कर्म कैसे हो सकता है ? और यदि काम की इच्छा के) बिना किसी कर्म का अनुष्ठान श्रेय के साधन रूप से आवश्यक हो तो उस कर्म का निर्देशक (पथ-प्रदर्शक) कौन है ? इस पर कहते हैं कि शास्त्र (अर्थात् वेद एवं वेदसम्मत श्रुति, स्मृति, पुराण आदि) कौनसा कर्म किस आश्रम-वासी के लिये करना कर्तव्य है एवं कौन सा कर्म नहीं करने योग्य है, यह निर्णय करते हैं।

शास्त्रविहित कर्म को केवल कर्तव्यबुद्धि से फल की कामना से शून्य होकर अर्थात् निष्कामभाव से करना सम्भव है यदि कर्मकर्ता की शास्त्र में प्रगाढ़ श्रद्धा रहे एवं वह यह निश्चय करले कि भगवदर्पणबुद्धि से निष्कामभाव से अपने आश्रम के अनुकूल शास्त्रसिद्ध कर्म का अनुष्ठान करके मैं क्रम से चित्तशुद्धि तथा तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर मोक्ष पा लूँगा। शास्त्र का अनुशासन मानकर विहित कर्म का अनुष्ठान करने पर चित्त-शुद्धि की प्राप्ति होती है अर्थात् चित्त कामादि से मुक्त होकर परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के योग्य होता है एवं तत्पश्चात् गुरुमुख से वेदान्त, महावाक्यादि का श्रवण करके आत्म-साक्षात्कार के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। किन्तु जो शास्त्रविधि का (अर्थात् अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्र के विधान का) अश्रद्धापूर्वक उल्लंघन कर कामकारतः अर्थात् कामप्रयुक्त होकर (अपनी इच्छा के वशीभूत होने के कारण उस इच्छा से चलित होकर) वर्तता है अर्थात् कर्म में प्रवृत्त होता है, उसके कर्म प्रायः शास्त्रविरुद्ध ही होते हैं। अतः स्वेच्छानुसार कर्म करने के कारण जिस अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, उस प्रकार के अन्तःकरण की शुद्धि' उन निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से कभी सम्भव नहीं होती है। केवल मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि ही नहीं वरन् धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये भी अन्तःकरण की योग्यता उन स्वेच्छाप्रेरित कर्मों से नहीं सम्पादित हो सकती है। केवल यही नहीं परन्तु काम (वासना) की पूर्ति के लिये कर्म करने के कारण उसका चित्त सदा ही विक्षिप्त रहता है। अतः वह उन कर्मों से इहलोक में भी सुख (उपशम अर्थात् वैराग्यजनित शान्ति) को प्राप्त नहीं होता है एवं इसप्रकार विक्षिप्त एवं अशुद्ध चित्त से वह तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परागति यानी मोक्ष को भी प्राप्त कर नहीं सकता। [(१) श्रीशंकराचार्य ने **'परागति'** का अर्थ स्वर्ग या मोक्ष कहा है क्योंकि जो शास्त्रविहित कर्मों को सकामभाव से करते हैं वे स्वर्ग को ही परमागति मानते हैं और जो निष्काम भाव से भगवदर्पणबुद्धि से चित्तशुद्धि के लिये शास्त्र के अनुसार कर्तव्यकर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष को ही परागति या परमपुरुषार्थरूप से निश्चय करते हैं। अतः जो शास्त्रविधि का उल्लंघन करके अपनी इच्छानुसार कर्म करते हैं वे स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) इन

दोनों से ही भ्रष्ट हो जाते हैं। (२) श्लोक में 'शास्त्रविधि' शब्द का तात्पर्य यह है कि 'शिष्यतेऽनुशिष्यते बोध्यतेऽनेनापूर्वोऽर्थः इति शास्त्रम् तच्च विधिनिषेधात्मकं' (आनन्द-गिरि) अर्थात् जिसके द्वारा अनुशासित होकर अ वं अर्थ बोधित होता है अर्थात् जिसके बिना अन्य प्रमाण के द्वारा अपूर्वरूप अर्थ (विषय) को जाना नहीं जाता है, वह शास्त्र है। कर्म के अनुष्ठान के साथ ही साथ कर्म नष्ट हो जाता है अतः प्रश्न होगा कि कर्म से उत्पन्न हुआ फल भी तो साथ ही साथ नष्ट हो जायगा, अतः कर्मफल भोगने के लिये फिर जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि कर्म के नष्ट होने पर ही कर्म से अपूर्व का उदय होता है जिसमें कर्म तथा कर्म का फल आहित रहता है एवं किस कर्म का किसप्रकार का अपूर्व उत्पन्न होगा, इस विषय पर शास्त्र (वेद एवं वेद सम्मतश्रुति, पुराण इत्यादि) ही प्रमाण है। शास्त्रविधिनिषेधात्मक है अर्थात् शास्त्र में 'ऐसा करना उचित है' इस प्रकार विधिवाक्य तथा 'इसे करना उचित नहीं है' इस प्रकार का निषेधवाक्य देखा जाता है अर्थात् शास्त्र में विधि तथा निषेधवाचक लिङ्गादि (कुर्यात् न कुर्यात् इत्यादि विधिलिङ्ग) शब्द हैं एवं उनसे ही मनुष्य के लिये क्या कर्तव्य है एवं क्या अकर्तव्य है, इसका ज्ञान होना सम्भव है किन्तु शास्त्रविधि निषेधात्मक होने पर भी शास्त्र के 'विधिवाक्य' का पालन करने पर ही सिद्धि (चित्तशुद्धि), सुख (इहलोक में शान्ति) एवं तत्पश्चात् निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करके परागति (मोक्ष) को प्राप्त हो सकता है। इसकारण से केवल 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग न करके 'शास्त्रविधि' शब्द का विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। शास्त्र के विधिवाक्य का पालन करने पर साक्षात्भाव से ब्रह्मात्मैकत्व-रूप मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह विधिवाक्य के अनुसार पालन करने पर पहले सिद्धि (चित्तशुद्धि) तत्पश्चात् सुख (चित्त का उपशम अथवा विक्षेपशून्यता) एवं तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान के द्वारा परागति प्राप्त होती है यहाँ भी इस प्रकार का क्रम ही स्पष्टतया सूचित किया गया है। (३) **सिद्धि** = पुरुषार्थ योग्यता (शंकर), चित्तशुद्धि (मधुसूदन), तत्त्वज्ञान (श्रीधर)। **परागति** = स्वर्ग या मोक्ष (शंकर), मोक्ष (श्रीधर)। यद्यपि इन शब्दों का टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है तथापि उनके कहने का तात्पर्य वही है जोकि ऊपर कहा गया है।]

पूर्व श्लोक में कहा है कि शास्त्रविधि का उल्लंघन करने पर सर्व कर्म निष्फल होता है एवं ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त पुरुषार्थों से रहित होता है। इसलिये कल्याण की इच्छावाले पुरुष को क्या करना चाहिए, उसे श्रीभगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्मात् ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ शास्त्रम् प्रमाणम् (अस्ति) (अतः त्वम्) इह शास्त्रविधानोक्तम् कर्म ज्ञात्वा (तत्) कर्तुम् अर्हसि ।

अनुवाद—इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मों की व्यवस्था करने में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्र में जैसे विधान किया गया है तुम्हें ऐसे कर्म को जानकर ही अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार तुम्हारा किस कर्म में अधिकार है, उसे जानकर ही इस लोक में तुमको उसी कर्म को करना चाहिए ।

भाष्यदीपिका—**तस्मात्**—सुतरां [अर्थात् क्योंकि शास्त्रविमुख होने से कामना के अधीन होनेवाली प्रवृत्ति पुरुष को इस लोक एवं परलोक के सभी पुरुषार्थों के अयोग्य बना देती है, इसलिये (मधुसूदन)] **ते**—कल्याण की इच्छावाले तुम्हारे लिये **कार्याकार्यव्यवस्थितौ**—कार्य (कर्त्तव्य) और अकार्य (अकर्त्तव्य) की अवस्था में अर्थात् 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' इस विषय में **शास्त्रम् प्रमाणम् (अस्ति)**—शास्त्र (वेद एवं उसके आश्रित श्रुति, पुराणादि) ही प्रमाण हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने का साधन है—अपनी कल्पना से जाने हुए वाक्यादि प्रमाण नहीं हैं, यही कहने का अभिप्राय है **इह**—इहलोक में अर्थात् जिस भूमि में कर्म का अधिकार है उस मनुष्यलोक में **शास्त्रविधानोक्तम् ज्ञात्वा**—शास्त्रविधान से कही हुई बात को समझकर [शास्त्र की आज्ञा का नाम विधान है अर्थात् शास्त्र के द्वारा जो ऐसी आज्ञा दी जाय कि 'यह कार्य करो, यह मत करो' वह शास्त्रविधान है, उससे उक्त (बताये हुए) अपने आश्रमोचित सत्कर्म को जानकर अर्थात् विहित कर्म का ग्रहण तथा निषिद्ध कर्म का त्याग कर] अपने वर्णाश्रमोचित कर्म (अतः क्षत्रिय के लिये विहित

युद्धादि कर्म) **कर्तुम् अर्हसि**—करना चाहिए [जब तक चित्त की शुद्धि न हो तब तक विहित कर्म करना चाहिए (मधुसूदन)] क्योंकि यदि ऐसा न करो तो आसुर भाव को प्राप्त होओगे। अतः शास्त्रवाक्य की अवहेलना कर तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस विषय पर निर्णय करने का प्रयास न करो। [इस प्रकार इस अध्याय में दोनों सम्पदाओं का विभाग (आसुरी तथा दैवी सम्पत्ति का भेद) दिखाकर यह निश्चय किया है कि सम्पूर्ण आसुरी सम्पद् के मूलभूत, सब प्रकार के अकल्याण की प्राप्ति करानेवाले, सम्पूर्ण श्रेय के प्रतिबन्धक काम, क्रोध और लोभरूप महान दोषों को त्याग कर कल्याणकामी को श्रद्धापूर्वक शास्त्रावलम्बी होकर शास्त्र द्वारा उपदेश किये हुए अर्थ का अनुष्ठान करने में तत्पर होना चाहिए।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—पूर्वोक्त श्लोकों का फलितार्थ (तात्पर्य) कहते हैं—**तस्मात् कार्याकार्यव्यस्थितौ ते शास्त्रम् प्रमाणम्**—अतः 'यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है' इसकी व्यवस्था में (इस विषय में) तुम्हारे लिये वेद, स्मृति एवं पुराणादि शास्त्र ही प्रमाण हैं। (**अतः**) **शास्त्रविधानोक्तम् ज्ञात्वा**—इसलिये शास्त्र के विधान द्वारा उक्त (कहे हुए) कर्म को जानकर **इह**—इस (जिस लोक में कर्म का अधिकार है उस मनुष्यलोक में स्थित रह कर (**कर्म**) **कर्तुम् अर्हसि**—तुमको अपने अधिकार के अनुसार कर्म करने चाहिए क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि तथा सम्यक्ज्ञान एवं मुक्ति का मूल शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान ही है।

देवदैतेयसम्पत्तिसंविभागेन षोडशे।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारस्तु सात्त्विकस्येति दर्शितम्॥

अर्थात् सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओं को विभागपूर्वक बताते हुए यह दिखाया गया है कि तत्त्वज्ञान में सात्त्विक मनुष्य का ही अधिकार है।

(२) **शंकरानन्द**—शास्त्रविधि के अनुसार ही कर्म के कर्तव्यत्व का निर्धारण करना चाहिए, ऐसा कहकर अध्याय का उपसंहार करते हैं **तस्मात्**—जिस कारण से केवल कामना से किये गये अशास्त्रीय कर्म के फल का अभाव निश्चित है (अर्थात् अशास्त्रीय कर्म से किसी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये फल नहीं मिलता है, ऐसा निश्चय किया गया है) इसलिये **कार्याकार्यव्यस्थितौ**—मुमुक्षु को कार्य एवं

अकार्य की व्यवस्था करने में अर्थात् 'यह करना चाहिये यह नहीं करना चाहिए' इन दोनों विषयों के (अनुष्ठान के योग्य तथा अनुष्ठान के अयोग्य विषयों के) व्यवस्थापन (निर्णय) में **शास्त्रम् प्रमाणम्**—श्रुति, स्मृति आदिरूप शास्त्र ही प्रमाण हैं अर्थात् तत्-तत् अर्थ के प्रमापक (यथार्थ ज्ञान देने वाले) हैं यानी देश, काल, मन्त्र तन्त्र, देवता, द्रव्य, ऋत्विक आदि के अर्थात् जिनसे शास्त्रीय कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उनके ज्ञान का एवं हेय द्रव्यों के (जिनका त्याग करना होगा उनके) ज्ञान का कारण शास्त्र ह है। जिस कारण से ऐसा है इसलिये **इह**—इस कर्म भूमि में (मनुष्य लोक में क्योंकि मनुष्य का ही कर्म में अधिकार है) **शास्त्रविधानोक्तम् कर्म ज्ञात्वा**—(जो अभी कर्म के अधिकारी है एवं जिसने दैवीसम्पद् सम्पन्न होकर कामादि दोषों को त्याग दिया है ऐसे तुम वेदार्थ के ज्ञाता होकर) शास्त्रविधानोक्त (यानी शास्त्रविधि के द्वारा विहित हुए) कर्म को जानकर ही (मेरा यह शास्त्रीय कर्म कर्तव्य है, ऐसा शास्त्र से जानकर ही) **कर्तुम् अर्हसि**—अपना कर्म करना चाहिए—अन्यथा नहीं, क्योंकि शास्त्र के द्वारा जो कर्म विहित नहीं है, ऐसा कर्म करने पर कर्मफल में वैगुण्य (विपरीतफल) प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मुमुक्षु को अपने वर्णाश्रम के अनुसार उचित कर्म को शास्त्र द्वारा विशेषरूप से जानकर करना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो शास्त्र के विधान का उल्लंघन करके स्वेच्छानुसार वर्तता है (कर्म का अनुष्ठान करता है) वह न तो सिद्धि (चित्तशुद्धि) को प्राप्त हो सकता है और न इहलोक एवं परलोक में ही सुख पाता है, अतः परागति (मोक्ष) तो उससे बहुत ही दूर है। इसलिये जो लोग अपने जीवन का कल्याण चाहते हैं एवं संसार से मुक्ति के लिये दृढ़ संकल्प किये हैं, उनके लिये कार्य तथा अकार्य के [क्या करना चाहिए एवं क्या करना नहीं चाहिए उस] विषय पर व्यवस्थिति में (उसके यथार्थ निर्णय में) शास्त्र (वेद तथा वेद मूलक स्मृति, पुराणादि शास्त्र) ही प्रमाण हैं। अतः इस मनुष्यलोक में (जिनका कर्म में अधिकार है उन मनुष्यों के लोक में) रहकर शास्त्र के विधानानुसार 'ऐसा कर्म करो,' 'ऐसा कर्म मत करो', इस प्रकार प्रवर्तना (विधि) एवं निवर्तना (निषेध) रूप से जिस अधिकारी के लिये जिस कर्म को विहित किया गया है उसे जानकर निषिद्ध कर्म का

त्याग करके अपने वर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित कर्म को ही जब तक चित्तशुद्धि न हो तब तक करना चाहिए। (अतः अर्जुन को भी अपने क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्धादि कर्म अवश्य ही करने उचित हैं, यही श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय है)। शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मों से चित्तशुद्धि उत्पन्न होने पर ही उनकी परिसमाप्ति हो जाती है। उसके पश्चात् गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है और तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्माराम, आत्मानन्द और आत्मतुष्ट होता है। अतः उसके करने के योग्य कोई कार्य नहीं रहता।

शास्त्र के विधान के अनुसार कहे हुए कर्म को जानने से पहले शास्त्र किसे कहते हैं, उसे भी जानना आवश्यक है।

१—'अप्राप्तशास्त्रमर्थवत्' (मीमांसा दर्शन ६।२।१८) अर्थात् जो विषय अन्य किसी प्रमाण के द्वारा (प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा) ज्ञात नहीं हो सकता उस अपूर्व का (अज्ञात विषय का) जो ज्ञापक होता है एवं जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है वही शास्त्र है।

२—शास्त्र (क) साध्य वस्तु की योग्यता का प्रतिपादक है अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थों की योग्यता जिस उपाय से प्राप्त हो सकती है उस साधन का प्रतिपादक है। (ख) सिद्ध वस्तु का निर्देशक है अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधक आत्मस्वरूप ब्रह्म का ज्ञापक है।

३—शास्त्र प्रवर्तना (विधि)—निवर्तना (निषेध) आत्मक है अर्थात् 'कुर्यात्' यानी यह कर्म करना चाहिए इसप्रकार विधिवाक्य के द्वारा शास्त्र कर्तव्यता का बोधक है, फिर 'न कुर्यात्' यानी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिए इत्यादि निषेध वाक्यों के द्वारा शास्त्र अकर्तव्यता का बोधक होता है।

४—साध्यधर्म (जो धर्म साधन के योग्य है वह) विधिगम्य है क्योंकि शास्त्र ही धर्म तथा अधर्म के सम्बन्ध में एकमात्र प्रमाण है। इसलिये जैमिनी सूत्र में कहा गया है—'धर्मस्य शब्दमूलत्वात्' अर्थात् शास्त्र में जिस अधिकारी के लिये जिस कर्म का जिस प्रकार से अनुष्ठान का निर्देश किया है वह उसके अनुसार अनुष्ठित होने

पर ही धर्म कहलाता है तथा शास्त्र के निर्देश के विपरीत कर्म करने पर वह अधर्म होता है। इसलिये जैमिनीसूत्र में कहा है—'चोदनालक्षणो धर्मः'

[चोदना=विधिवाक्य; लक्षण=प्रमाण अर्थात् विधिवाक्य ही जिसका प्रमाण (प्रतिपादक) है वह पुरुषार्थ ही धर्म है]।

शास्त्रविधानोक्त धर्म के सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसप्रकार कहा है—"शास्त्रहेतुत्वात् धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मः, अयम् अधर्मः इति शास्त्रम् एव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात् तयोः, अनियतदेशकालनिमित्तत्वात् च। यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यः धर्मः अनुष्ठीयते, सः एव देशकालनिमित्तान्तरेषु अधर्मः भवति। तेन शास्त्रात् ऋते धर्माधर्मविषयविज्ञानं न कस्यचित् अस्ति।" अर्थात् शास्त्र ही धर्म–अधर्म विज्ञान का हेतु है। यह धर्म, यह अधर्म, इसप्रकार के ज्ञान का शास्त्र ही कारण है क्योंकि वे धर्म–अधर्म इन्द्रियों के विषय नहीं हैं एवं उनके देश, काल तथा निमित्त अनियत हैं (व्यवस्थित नहीं है अर्थात् जिस काल में, जिस देश में एवं जिस हेतु के कारण कोई विशेष धर्म अनुष्ठित होता है वही अन्य काल में, अन्य देश में एवं अन्य हेतु के कारण अधर्म माना जाता है। अतः शास्त्र के बिना धर्माधर्मविषयक विशेषज्ञान किसी को होना असम्भव है। इसलिये धर्माधर्म विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है—बुद्धि प्रमाण नहीं है, यही 'शास्त्रविधानोक्तम् कर्म ज्ञात्वा' वाक्य का तात्पर्य है।

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उसका सार यह है कि पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्म तथा वासना के अनुसार मनुष्य सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी प्रकृति से सम्पन्न होकर जन्म ग्रहण करता है। उन तीनों गुणों में सात्त्विक गुण की विशेष प्रबलता होने पर मनुष्य दैवीसम्पद्युक्त होता है एवं राजसी तथा तामसी गुणों की अत्यन्त प्रबलता होने पर मनुष्य आसुरी सम्पद् से युक्त होता है। इसप्रकार मनुष्य-सृष्टि में दो प्रकार की सम्पद् देखी जाती हैं—(क) दैवी, (ख) आसुरी। राक्षसी सम्पद् से युक्त तृतीय प्रकार के मनुष्य का भी गीता के नवम अध्याय के बारहवें श्लोक में उल्लेख किया गया है परन्तु उसमें भी दम्भ, दर्प, अभिमान इत्यादि आसुरी सम्पद् का ही प्राधान्य रहने के कारण राक्षसी सम्पद् को आसुरी सम्पद् में ही अन्तर्भूत किया गया है। दैवी

तथा आसुरी सम्पद् सम्पूर्णरूप से विरुद्ध गति की हेतु होती हैं क्योंकि दैवीसम्पद्सम्पन्न मनुष्य मोक्षगति का अधिकारी होता है किन्तु आसुरीसम्पद् से सम्पन्न होकर मनुष्य संसार बन्धन में पतित होकर अधः से अधः गति को प्राप्त होता है। इसलिये आसुरी-सम्पद् सर्वप्रकार से हेय (त्याज्य) है। काम, क्रोध तथा लोभ ये तीनों दोष आसुरी सम्पद् के मूल हैं एवं वे ही नरक के द्वार हैं, अतः कल्याणकामी पुरुष इन कामादि तीनों दोषों से विमुक्त होकर सत्संग, गुरुकृपा तथा दृढ़ संकल्प से दैवीसम्पद् का अर्जन कर मोक्ष का अधिकारी होता है। जिसके चित्त में काम, क्रोध, लोभ रूप वृत्तियाँ हैं उसका चित्त सर्वदा ही विक्षिप्त रहने के कारण वह समाधियोग से आत्मस्वरूप का दर्शन करने में कभी भी समर्थ नहीं होता है। अतः शास्त्रविधानानुसार अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्म श्रद्धापूर्वक निष्कामभाव से भगवदर्पणबुद्धि से करने पर आसुरी-वृत्ति का नाश होकर चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है। स्वच्छ (निर्मल) दर्पण में जिसप्रकार मुख का प्रतिबिम्ब यथार्थरूप से प्रतिफलित होता है, उसीप्रकार शुद्ध हृदय में वेदान्त महावाक्य के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान का अनायास प्रकाश होता है एवं उस तत्त्वज्ञान से वह श्रद्धावान् योगी परागति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। धर्म-अधर्म अथवा कर्तव्य-अकर्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है—बुद्धि प्रमाण नहीं है। जो शास्त्रविधि को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार धर्म एवं अधर्म का निर्णय करता है वह किसीप्रकार की पुरुषार्थ की सिद्धि, अथवा परागति (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर सकता है अर्थात् शास्त्रवाक्य में अचल श्रद्धा रखकर उसी के अनुसार विहित कर्म का अनुष्ठान करने पर ही मनुष्य यथाक्रम से चित्तशुद्धि, तत्त्वज्ञान एवं कैवल्य—मुक्ति को प्राप्त करके कृतकृत्य हो सकता है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागो नामा षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

परिशिष्ट

नारायणी टीका

[षोडश अध्याय (दैवासुरसम्पद्विभागयोग) का तात्पर्य]

नारायणी टीका

षोडश अध्याय का तात्पर्य

पन्द्रहवें अध्याय में उक्त पुरुषोत्तम भगवान् की प्राप्ति के लिये पहले चित्तशुद्धि की आवश्यकता है एवं उसके पश्चात् विषय वैराग्य तथा गुरुमुख से समस्त संशयों का निवारण कर ब्राह्मीस्थिति के लिये अभ्यास (पुनः पुनः प्रयत्न) होना सम्भव है। आसुरीसम्पद् इस अभ्यास एवं बैराग्य का प्रतिबन्धक है। अतः जब तक मनुष्य सत्संग, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा तथा दृढ़ संकल्प के द्वारा आसुरीवृत्ति का त्याग करके दैवीसम्पद्-सम्पन्न नहीं होता है तब तक विवेकज्ञान के अभाव के कारण उसका मोक्षमार्ग में अग्रसर होना असम्भव है। दैवीसम्पद् के सम्बन्ध में श्रीभगवान् ने गीता में स्थान-स्थान पर अनेक बार कहा है किन्तु आसुरीसम्पद् का इतना विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया है। इसलिये इस अध्याय में संक्षेप से दैवी सम्पद् का विवरण देकर आसुरीसम्पद् तथा उनसे किसप्रकार की गति होती है, यह विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है जिससे कल्याणकामी पुरुष आसुरीवृत्ति का त्याग कर, दैवीसम्पद् से सम्पन्न होकर जीवन का परमपुरुषार्थ जो परमानन्द की प्राप्ति या परमगति मोक्ष है, उसे प्राप्त हो सके।

दैवीसम्पद् का वर्णन (१६।१–३)

निम्नलिखित छब्बीस गुणों को दैवीसम्पद् कहा जाता है—

(१) अभय (२) सत्त्वसंशुद्धि (चित्तशुद्धि) (३) ज्ञानयोग व्यवस्थिति [तत्त्वज्ञान तथा योग (भगवान् के साथ एकत्वानुभव) में विशेषरूप से स्थिति] (४) दान (५) दम (इन्द्रियों का संयम)। यज्ञ—द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ अर्थात् सर्वकर्म तथा कर्मफलों को भगवान् में अर्पण करना। (७) स्वाध्याय—जप या शास्त्रादि के अध्ययन द्वारा अपने स्वरूप का स्मरण। (८) तप-मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता। (९) आर्जव—अकपटता। (१०) अहिंसा—दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना (११) सत्य (१२) अक्रोध (१३) त्याग (१४) मन की शान्ति (१५) अपैशुन—परदोष का कीर्तन न करना (१६) सर्वभूतों में दया (१७) अलोलुप्त्व विषय के लिये लोभ न करना

(१८) मार्दव–मृदुता (अक्रूरता) (१९) ह्री–लज्जा (२०) अचापल–चपलता से रहित होना (२१) तेज–मनोबल अर्थात् किसी से विक्षिप्त न होना (२२) क्षमा (२३) धृति–परिश्रम से धैर्य का तथा मान, अपमान आदि के द्वारा मन के अवसन्न होने पर भी किसी प्रकार विकार प्राप्त न होकर धैर्यधारण करना ! (२४) शौच (बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुचि (२५) अद्रोह–किसी के मारने के लिये शस्त्रादि का ग्रहण न करना। (२६) नातिमानिता–अपने में अतिशय पूज्यत्व की बुद्धि न रखना [इन सब शब्दों की विशेष व्याख्या १–३ श्लोको की नारायणी टीका में देखिये।] ये उक्त छब्बीस गुण जो पूर्वजन्मकृत अत्यन्त पुण्य कर्म के फल से सात्त्विक गुणों से सम्पन्न होकर जन्म लेता है, उसमें स्वभावतः ही प्रकट होते हैं। इनको दैवी सम्पद् कहा जाता है क्योंकि इनसे सम्पन्न होकर ही मनुष्य देव अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होने के योग्य होता है।

आसुरीसम्पद् का वर्णन (१६–४)

(१) दम्भ (धर्मध्वजित्व) (२) दर्प (धन, जन निमित्त गर्व (३) अतिमान या अभिमान (अन्य से मानप्राप्ति की इच्छा) (४) क्रोध–दूसरे का अपकार करने के लिये जलनात्मक अंतःकरणवृत्तिविशेष (५) पारुष्य–प्रत्यक्षरूप से रूक्ष (कठोर) वचन बोलना (६) अज्ञान कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में विवेकका अभाव।

ये सब दोष जो पूर्वकृत दुष्टकर्मों के फलरूप से अत्यन्त रज तथा तम वृत्ति से सम्पन्न होकर जन्म लेता है उसमें देखे जाते हैं। न + सुर (देवता) = असुर अर्थात् दैवीसम्पद् के सम्पूर्णतया विरोधी होने के कारण समस्त अनर्थ के मूलभूत इन सब दोषों को आसुरीसम्पद् कहते हैं।

दैवी तथा आसुरीसम्पद् के फलों के भेद (१६।५)

दैवीसम्पद् संसारबन्धन से पूर्णतया मुक्ति का हेतु होती है क्योंकि उससे चित्तशुद्धि, भगवद्भक्ति तथा तत्त्वज्ञान एवं तत्त्वज्ञान में निष्ठा का होना सम्भव है किन्तु आसुरीसम्पद् उससे सम्पूर्णतः विपरीत होने के कारण देहात्मबुद्धि को तथा विषयवासना को दृढ़ से दृढ़तर कर देती है एवं इसलिये अधः से अधः गति की प्राप्ति की हेतु होने के कारण वह निश्चितरूप से संसारबन्धन का कारण होती है। [नवम श्लोक में

उक्त राक्षसी प्रकृति भी इस आसुरीसम्पद् के ही अन्तर्गत है। अतः बुद्धिमान् व्यक्तिको आसुरीवृत्ति से अपनी रक्षा करने के लिये सर्वप्रकार से प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जो पुण्यशील व्यक्ति दैवीसम्पद् को लक्ष्य करके जन्म लेता है उसके लिये तो मोक्षप्राप्ति सुलभ है किन्तु जो अपने अन्दर आसुरीवृत्ति को देखकर भयभीत हो जाता है एवं उससे मुक्त होने के लिये कायिक, मानसिक तथा वाचिक बल सर्वप्रकार से प्रयुक्त करता है वह भी क्रमशः दैवीसम्पद् से भूषित होकर अपना उद्धार कर सकता है।

आसुरीवृत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन (१६।६–१८)

इस संसार में (विशेष करके मनुष्यों में) दो प्रकार की सृष्टि देखी जाती है— (क) दैवीसृष्टि (ख) आसुरीसृष्टि। दैवी सृष्टि के सम्बन्ध में तो पूर्वाध्यायों में स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये आसुरीसम्पद् का भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना आवश्यक है (१६।६) जिन लक्षणों से स्पष्टरूप से जाना जाता है कि यह व्यक्ति आसुरी प्रकृति से युक्त है वे इसप्रकार हैं—

१—असुर स्वभावसम्पन्न व्यक्ति अपनी मलिन बुद्धि से ही चालित होता है। अतः शास्त्र के विधिवाक्य के अनुसार किस शुभ कर्म में प्रवृत्त होना उचित है एवं किस अनर्थ कर पाप-कर्म से निवृत्त होना उचित है, वह उसे नहीं जानता है। फिर केवल अपने देहादि के ही सुख साधन में व्यस्त रहने के कारण तथा तमोगुण के अत्यन्त प्रबल रहने के कारण शौच (आभ्यन्तर शौच तो बहुत दूर की बात है, स्नानादि द्वारा देहादि का बाह्य शौच) का सम्पादन करने से विरत रहता है। फिर पूर्व पुरुषों के द्वारा अनुष्ठित अथवा ऋषि-मुनियों के द्वारा उपदिष्ट आचार नहीं पालन करता है एवं सत्य (अर्थात् प्रिय, हितकर तथा यथार्थ) भाषण नहीं करता है। (१६।७)

२—वे लोग इस जगत् की सब वस्तुओं को सत्य से रहित मानते हैं अर्थात् जगत् के प्राणिसमूह सत्यवर्जित हैं, जगत् के मूल में कोई सत्यवस्तु नहीं है, शास्त्रादि सब असत्य हैं यानी भण्ड, धूर्त लोग ही शास्त्र आदि के कर्ता हैं। फिर ये लोग कहते हैं कि जगत् अप्रतिष्ठ है अर्थात् जगत् का वैचित्र्य के मूलरूप से कोई नियम नहीं है अर्थात् धर्म तथा अधर्मरूप कोई व्यवस्था नहीं है अतः इन लोगों के मत में जगत् का कर्मफल-दाता कोई ईश्वर भी नहीं है। ईश्वर के बिना जगत् की सृष्टि कैसे होती है? इस पर वे

कहते हैं कि कामना से प्रेरित हुए स्त्री-पुरुष के परस्पर मिथुन से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है अर्थात् काम के बिना इस जगत् का कोई दूसरा कारण नहीं है। (१६।८)

(३) इस प्रकार की दृष्टि का आश्रय करने के कारण वे अल्पबुद्धि (विवेकहीन) आसुरीभावापन्न लोग स्वेच्छानुसार काम, क्रोधादि के वशीभूत होकर केवल देहादि के पोषण के लिये ही शास्त्रविरुद्ध उग्र कर्म करते हुए अपने आत्मा को नष्ट कर देते हैं क्योंकि इसके फलस्वरूप मृत्यु के पश्चात् व्याघ्र, सर्पादि योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। वे केवल अपना ही नाश नहीं करते हैं परन्तु जगत् का भी नाना प्रकार से अहित (अनिष्ट साधन) करते हैं। (१६।९)

(४) शास्त्र, ईश्वर, आचार आदि को न मानने के कारण जैसे जैसे मन में काम का उदय होता है उसको पूर्ण करना असम्भव होने पर भी उस काम (विषयाभिलाषा) को आश्रय करके दम्भ (अधार्मिक होने पर भी अपने धार्मिकत्व के प्रचार) से, मान से (पूज्य के योग्य न होने पर भी दूसरे से पूजा की प्राप्ति की इच्छा से) एवं मद से (किसी प्रकार का उत्कर्ष न रहने पर भी अपने में उत्कृष्टत्व के अध्यारोप से) युक्त होकर मोहवश (अविवेक के वशीभूत होकर) नाना प्रकार से असत् (अशुभकर) दुराग्रह का ग्रहण कर मद्य-मांसादि के भक्षण से अशुचिव्रत का अवलम्बन करके भूत-प्रेत अथवा क्षुद्र देवता के आराधनाकार्य में प्रवृत्त होते हैं एवं इस प्रकार के कर्म के द्वारा अन्त में नरक को प्राप्त होते हैं। मृत्युकालपर्यन्त कामिनीकांचन की चिन्ता से व्यस्त रहने के कारण इन लोगों की चिन्ता का कोई अन्त नहीं है। काम यानी भोग्य विषय का भोग करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है, यही इन लोगों का निश्चय है। अतः उन विषयों के लिये अपरिच्छिन्न आशा रहने के कारण वे शत-शत आशारूपी पाशों से बद्ध रहते हैं। इसलिये या तो काम (विषय-भोग) और नहीं तो विषय-भोग में प्रतिबन्धक उपस्थित होने पर प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति क्रोध ही इनके जीवन के परमाश्रय होते हैं अर्थात् काम तथा क्रोध के वशीभूत होकर ही वे जीवन बिताते हैं। अतः काम (इच्छित विषय) के भोग को मिटाने के लिये वे परधन हरणादि के द्वारा अन्यायरूप से धनराशि को संचय करने की सदा ही चेष्टा करते हैं। (१६।१०-१२)

इन मूढ़ लोगों की धन की तृष्णा अत्यन्त प्रबल रहती है इस कारण से वे चिन्ता करते हैं कि 'आज मुझे इतना धन प्राप्त हो गया एवं मन की कामना के अनुसार शीघ्र ही और धन प्राप्त कर लूँगा', 'इतना धन मेरे घर में संचित है फिर भविष्यत् में (आगामी वर्ष में) और बहुत साधन मेरे पास हो जायगा', 'देवदत्त नामक बलवान् शत्रु का मैंने नाश किया है और दूसरे शत्रु जो मेरे प्रतिकूल आचरण करेंगे, उनको भी मैं मार दूँगा', 'मेरे समान जगत् में कोई नहीं है, मैं तो ईश्वर के समान हूँ अतः मेरे लिये कोई असाध्यवस्तु नहीं है,' 'मैं भोगी [सर्व भोगों के उपकरण से (सामग्री से) युक्त] केवल बाह्य वस्तुओं से ही सम्पन्न नहीं हूँ वरन् मैं तो सिद्ध (पुत्र, वित्त आदि से सम्पन्न) भी हूँ। केवल यही नहीं बल्कि मैं तो स्वयं बलवान् तेजस्वी हूँ। इसके अतिरिक्त मैं सुखी (सर्व प्रकार से निरोग) हूँ, फिर मैं धनी हूँ, कुलीन हूँ, अतः मेरे सदृश और जगत् में कौन हो सकता है'?

'मैं केवल अपने भोग के लिये ही धन संचय नहीं कर रहा हूँ बल्कि मैं तो इस प्रकार का यज्ञ करूंगा कि किसी ने भी ऐसा यज्ञ नहीं किया हो—धन भी नर्तकी, स्तुति कर्ता को दान करके उनके नृत्य, गीतादि के द्वारा मैं मोद यानी हर्ष को प्राप्त करूंगा' इसप्रकार के अज्ञान (अविवेक) से विविध (नाना) प्रकार से मोहरूप भ्रम-परम्परा को प्राप्त होकर उक्त प्रकार से दूषित चित्त के संकल्प द्वारा विभ्रान्त होकर तथा मोह (हिताहित वस्तु के विवेक के असामर्थ्य) रूपी जाल के द्वारा सर्वप्रकार से आवृत (वेष्टित) होकर अर्थात् मत्स्य (मछली) जिस प्रकार सूत्र द्वारा वशीभूत होती है उसी प्रकार उक्त मोहजाल से वशीभूत होकर काम-भोग (विषय-भोग) में अत्यन्त आसक्त रहकर प्रतिक्षण पाप की वृद्धि करते हुए मृत्यु के पश्चात् अशुचि (मल-मूत्र परिपूर्ण वैतरणी आदि) नरकों में पतित होता है (१६।१३–१६)

(६) वे यज्ञादि कर्म भगवान् के संतोष के लिये विधिपूर्वक नहीं करते हैं तथा अपने को सम्भावित (सर्वगुणविशिष्ट) मानकर दूसरे की पूज्यता प्राप्त करने के लिये सदा ही चेष्टा करते हैं इसलिये वे स्तब्ध (अनम्र-नम्रताशून्य) होते हैं क्योंकि धन के निमित्त तथा मान के निमित्त मद (गुरु आदि पूज्य नहीं हैं, इसप्रकार मत्तता यानी अभिमान) से युक्त होकर दम्भपूर्वक नाममात्र के यज्ञ से (अर्थात् नाम का प्रचार

करना ही जिस यज्ञ का प्रयोजन है उससे—श्रद्धापूर्वक सात्त्विक यज्ञ से (नहीं) अविधिपूर्वक (शास्त्रविहित अङ्ग तथा इति कर्तव्यता से रहित होकर) यजन करते हैं। अतः यह तामसिक यज्ञ होने के कारण इससे इह लोक तथा परलोक में कोई फल प्राप्त नहीं होता है। ये लोग अहंकार (मैं ही सब करने में समर्थ हूँ—दूसरा नहीं, इस प्रकार का अभिमान), बल (सब काम करने में मेरा बल ही पर्याप्त है एवं दूसरे को परिभूत करने के लिये मेरे शरीर में विशेष सामर्थ्य है) अतः दर्प (मेरे समान कोई नहीं है, ऐसा भाव) तथा काम, क्रोध का आश्रय करके अपनी देह में तथा दूसरे की देह में अवस्थित मेरा अत्यन्त द्वेष करते हैं एवं जो वैदिक मार्ग में स्थित होकर सन्मार्ग पर चलने वाले हैं, इसप्रकार के साधु-सज्जनों को भण्ड, प्रतारक इत्यादि नामों से दोषारोपण करते हैं। (१६।१७–१८)

आसुरीप्रकृतिसम्पन्न दुष्टजनों की गति (१६।१९-२०)

श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं सर्वकर्म फलदाता ईश्वर हूँ, अतः मुझे स्वीकार न करने पर भी जो मुझसे एवं शरणागत साधुजनों से द्वेष करते हैं तथा सदा ही क्रूर (हिंसाप्रधान) अतः अशुभ कर्म में लिप्त हैं, उस प्रकार के अतिनिन्दित नराधमों को संसार में अर्थात् नरक प्राप्ति के मार्ग में तत्-तत् कर्म तथा वासना के अनुसार अतिक्रूर (व्याघ्र, सर्पादि) योनियों में ही गिरा देता हूँ (१६।१९) इसप्रकार आसुरीयोनि को प्राप्त होकर वे अत्यन्त तमोगुण से आवृत्त होने के कारण अधिकतम मूढ़ (अविवेकी) होते हैं तथा इसके फलस्वरूप मुझको प्राप्त करना तो बहुत दूर की बात है, वे आसुरी योनि से भी और अधमगति (कृमि, कीटादि की गति) को प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमान्, कल्याणकामी पुरुष को मेरी शरण लेकर सर्वप्रकार से आसुरी सम्पद् से मुक्त होकर दैवीसम्पद् सम्पन्न होने के लिये चेष्टा करनी चाहिए यही कहने का अभिप्राय है। (१६–२०)

आसुरीप्रकृति से मुक्त होकर परागति (मोक्ष) प्राप्ति का उपाय क्या है ? (१६।२१–२२)

यद्यपि आसुरजनों के बहुत से दोष हैं तथापि इन दोषों के मूल हैं–काम, क्रोध

तथा लोभ। ये तीनों ही नरक प्राप्ति के द्वार हैं एवं आत्मा के नाशक हैं अर्थात् आत्मा को सर्वपुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अयोग्य बना देते हैं। इसलिये सब प्रकार के अनर्थों के मूल होने के कारण इन तीनों का बुद्धिमान् योगी को त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि इनका त्याग कर देने पर समस्त आसुरी वृत्तियाँ परित्यक्त हो जाती हैं। (१६।२१)

इन नरक के साधनरूप तीनों दोषों से विमुक्त (शून्य) होने पर मनुष्य आत्मा के श्रेय (परम कल्याण) को लाभ करने में सहायक (वेदविहित तप, योगादि) साधनों का आचरण (अनुष्ठान) करते हैं एवं उसके द्वारा चित्तशुद्धि से तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर परागति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं। (१६।२२)

आसुरीवृत्ति का विनाश करने के योग्य शुभ कर्मों को किससे जाना जाता है (१६।२३–२४)

किन-किन कर्मों का अनुष्ठान करने से आसुरी वृत्ति का नाश हो सकता है, इस विषय पर शास्त्रविधि ही प्रमाण है। उस विधि का अश्रद्धापूर्वक परित्याग करके जो अपनी इच्छा के अनुसार चलते हैं, वे सिद्धि (अर्थात् पुरुषार्थ की प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण की शुद्धि) को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। केवल यही नहीं बल्कि इहलोक के सुख तथा मृत्यु के पश्चात् परागति (मोक्ष) को भी प्राप्त नहीं होते हैं (१६।२३) इसलिये क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है—इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण होने के कारण कर्म करने से पूर्व शास्त्र के विधान को जानकर निषिद्ध कर्मों का वर्जन (त्याग) करके अपने वर्णाश्रमविहित कर्म जब तक चित्तशुद्धि न हो तब तक करने चाहिए (१६।२४)

षोडशोऽध्यायः समाप्तः

"*Raghu's* son", thus spake the sages, "helper
of each holy rite,
Portion of the royal *Indra* fount of justice
and of might,
On thy throne or in the forest, king of nations,
lord or men.